संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ५८ वाँ रत्न

समर्थ-समाधान

भाग ३

संपादक—

श्री घीसूलालजी पितलिया, सिरियारी

प्रकाशक-

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

द्रव्य-सहायक

सुश्रावक श्रीमान् मोहनलालजी सा. सुराना
निवासी मंड्या

प्राप्ति स्थान--

१—श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना मध्य-प्रदेश

२— " एदुन बिल्डिग, पहली धोबी-तलाव लेन
बम्बई ४००००२

३— " सराफा बाजार जोधपुर राजस्थान

मूल्य — ३ = ५०

प्रथमावृत्ति
२००० — वीर संवत् २५०५
विक्रम संवत् २०३५
अप्रेल सन् १९७९

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (मध्य प्रदेश)

आत्म-निवेदन

'जन' को 'जिन' बनाने वाला जैन-धर्म जयवंत हो। अघमलहारिणी अनंतअव्याबाधशिवसुखदायिनी चिरसंचित कर्म-कलुषप्रक्षालिनी जिनवाणी जाह्नवी के निर्मल नीर के स्रोत स्वरूप जिनेन्द्रवरवीर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को कोटि-कोटि वंदन, अभिनंदन। श्रुत-प्रणेता, श्रुत-संरक्षक सभी जाने-अनजाने पूर्वाचार्यों का भक्तिपूर्वक स्मरण।

पूज्य स्वामीजी श्री रतनचंदजी म. सा., श्री मुलतानमलजी म. सा., तपस्वीजी श्री सिरेमलजी म. सा.! आपने जो चावल के दाने सुरक्षा के लिए पूज्य समर्थ स्वामी को सौंपे थे, वे शत-सहस्त्र-लक्ष गुणा हो कर गाड़े के गाड़े भर कर पूज्यश्री समर्थमलजी म. सा. ने लौटा दिये हैं। हजारों-लाखों लिखित-मौखिक-समाधान देकर स्वामीजी श्री ने श्रुत-प्रेमियों को अनिर्वचनीय संतुष्टि दी है। इसके लिए आप सब ज्ञान दाताओं को कृतज्ञता ज्ञापन प्रस्तुत है।

श्रुतस्वादु पाठकवृंद! समर्थ-समाधान का तीसरा भाग आपकी पवित्र सेवा में प्रस्तुत है। तीन भागों में इक्कीस सौ प्रश्नों के उत्तर हैं। आपको इनके अध्ययन से विशेष ज्ञान होगा। शास्त्र-दधि का मंथन करके बहुश्रुत महात्माओं द्वारा समय-समय नवनीत निकाला जाता है, तो आगम अनुरागियों के लिए पौष्टिक खुराक बन जाती है।

परम आदरणीय पुण्यपुरुष श्रीमान् किसनलालजी पृथ्वीराजजी सा. मालू एवं धींगड़मलजी सा. गिरिया द्वारा जो महामूल्यवान सामग्री संजोई गई है, तदर्थ पाठक परिवार की ओर से धन्य-

वाद की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

श्रीमान् रतनलालजी डोशी, सैलाना द्वारा समर्थ-समाधान के प्रथम दो भागों का संपादन प्रकाशन हुआ है। इस खण्ड के भी वे दिशा-निर्देशक हैं। त्रुटियों के लिए अवश्य ही मैं उत्तरदायी हूँ, तथा पाठकों से आशा है कि वे कृपापूर्वक परिमार्जन करेंगे।

भद्दं बहुसुयाणं, बहुजणसंदेहपुच्छणिज्जाणं।
उज्जोइअभुवणाणं, झिणंमि वि केवलमयंके॥

केवलज्ञानी रूपी चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर भी जिन्होंने जगत को ज्ञान का प्रकाश दिया है और पृच्छा का समाधान कर बहुतों का संदेह दूर किया है, ऐसे बहुश्रुतों का कल्याण होओ।

२८ फरवरी ७९

दास—
बी. घीसूलाल पितलिया
सिरियारी

प्रकाशकीय निवेदन

समर्थ-समाधान भाग तीसरा प्रकाशित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसका सम्पादन प्रियधर्मी धर्मज्ञ युवक श्री धीसूलालजी पितलिया सिरियारी निवासी ने किया है। उन्होंने धर्माराधक सुश्रावक श्रीमान सेठ किसनलालजी सा. मालू द्वारा संग्रहित उत्तरों के रजिस्टर के अतिरिक्त कुछ सम्यग्दर्शन में पूर्व प्रकाशित प्रश्नोत्तर कुछ तत्वज्ञ सुश्रावक श्रीमान धींगड़-मलजी सा. जोधपुर के पास से और कुछ अन्य से प्राप्त सामग्री का सम्पादन कर इस भाग को सम्पन्न किया है। पूर्व के दो भाग का सम्पादन मैंने किया था। सावधानी रखते हुए भी मुझसे भूलें भी हो गई थी। मेरे द्वारा समर्थ-समाधान का प्रकाशन देखकर स्व. पूज्य श्रमणश्रेष्ठ अप्रसन्न हो गये थे।

जयपुर के चातुर्मास में आपने श्री सिरेमलजी रांका को बाहर के प्रश्नों के उत्तर लिखवाते समय, इनकी नकल नहीं रखने की सूचना की थी। उन्होंने मुझे लिखा, तब मैंने उन्हें लिखा कि—उत्तर आप ही लिख कर पोस्ट करते हैं। आप घर आकर नकल कर लीजिये। आप नहीं जानते कि ये उत्तर कितने उपयोगी होते हैं। मेरी बात मान कर श्री रांका जी उत्तरों की नकल करते रहे। किसी समय पूज्य गुरुदेव ने पूछा होगा, या किसी निमित्त से सन्देह हुआ होगा। अतएव आगे उत्तर लिखवाना ही बंद कर दिया। उसके बाद प्रायः यह नियम-सा हो गया कि उत्तर उसी को दिया जाय जो समक्ष आ कर पूछे। बिना किसी खास कारण लिखवा कर उत्तर देने की प्रवृत्ति बंद कर दी गई। स्वर्गीय गुरुदेव की नीति का पालन आज भी

पूज्य पं. मु. श्री प्रकाशचंदजी म. सा. कर रहे हैं। पूज्य श्री प्रकाशमुनिजी म. सा. ने गुरुदेव के चरणोपासना से ज्ञानार्जन में यह निष्णातता प्राप्त की है कि पृच्छकों को पूर्ण संतोष हो जाता है। आपने इस विषय में स्व. गुरुदेव की क्षति अधिकांश में पूर्ण कर दी है। गुरुदेव के स्वर्गवास के पश्चात् मैंने भी आवश्यकता होने पर प्रश्न पूछे, तो लेखी उत्तर दिलवाने से मना कर दिया। इस प्रकार अपने को निराश पा कर भी मुझे इस बात की तो प्रसन्नता है कि पं. र. श्री प्रकाशमुनिजी म. सा. भी गृहस्थों को उत्तर दिलवाने में गुरुदेव की नीति का अनुसरण कर रहे हैं।

इस तीसरे भाग का सम्पादन मैंने नहीं किया। सम्यग्दर्शन में छपे प्रश्नोत्तरों के अतिरिक्त अंश का पहले निरीक्षण भी नहीं किया और छपने को दे दी। मैंने मात्र अंतिम प्रूफ ही देखा है। पूर्व के दो भाग सम्पादन में मैंने जिस स्थान पर कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता समझी, वहाँ पादटिप्पण में ही किया। अपनी बात को गुरुदेव के उत्तर के शब्दों के साथ नहीं जोड़ा। किंतु इसमें कई स्थानों पर पादटिप्पण दिये हैं और कई स्थानों पर उत्तर के साथ ही कोष्टक लगा कर अपने विचार जोड़ दिये हैं।

गुरुदेव के उत्तर जबानी होते थे, लिखने और नकल करने वालों ने अनेक भूलें की। बहुधा लिखने वाले भाषा का ज्ञान रखने वाले नहीं रहे। वे जैसा अपने पत्रों-वहियों में लिखते थे, वैसा लिखते रहे। इसमें भूलें होना स्वाभाविक ही था, संभव है कहीं अपनी बुद्धि का या जानकारी का परिचय भी दिया हो।

इस भाग के पृ. ११८ पंक्ति ६ प्रश्न १६६३ के उत्तर में जो यह लिखा है कि "चक्रवर्ती अवधिज्ञान या विभंगज्ञान ले कर भी उत्पन्न होते हैं"-यह बात मेरे मन में खटकी। मैं पहले सामने आये पृष्ठ देख कर बाद में इस खटक वाली बात पर विचार करने का सोच कर आगे बढ़ गया और वह प्रूफ देख कर किसी अन्य कार्य में लग गया। दूसरे दिन आगे का प्रूफ देखते समय कल वाली भूल स्मरण हो आई। इतने में वह पृष्ठ छप ही चुका था। वास्तव में विभंगज्ञान ले कर कोई भी मनुष्य उत्पन्न नहीं होता। मेने पाण्डु-लिपि देखी, तो वहाँ भी काट-कूट कर बढ़ाया हुआ था। यह सब किसने किया, मैं नहीं जानता। परंतु यह भूल इसमें रह ही गई है।

पृ. ११३ प्रश्नोत्तर १६८३ के विषय में स्पष्ट करना आवश्यक है:—

जोधपुर बीकानेर जैसे नगरों की गलियाँ सकड़ी हैं। उनमें गटर और नाली का पानी बह कर रास्ते पर आ जाता है और मल-मूत्र का गीलापन भी रहता है। ऐसी सकड़ी गलियों की नाली साफ करते समय भी रास्ते गीले हो जाते हैं, जिस पर चलने-फिरने में सम्मूर्च्छिम की विराधना होती है। यही आशय प्रश्न और उत्तर का है।

इस पुस्तक में मैंने नयी पाद टिप्पणी तो एक पृ. १३९ में ही लगाई है, शेष ३, ४ टिप्पणियें पहले की है, जब वह अंश सम्यग्-दर्शन में छपा था और जिसे श्री पितलियाजी ने "डोशीजी" लिखकर मेरी होना बताया है।

हमारे सामने कठिनाई यह है कि प्राप्त सामग्री शुद्ध एवं सन्देह से परे नहीं है, और इसका संशोधन करने वाले समर्थ शास्त्रज्ञ का योग भी हमें नहीं मिला। मुनिराज संशोधन नहीं करते। इस स्थिति में हम जो कुछ करते हैं, अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार करते हैं। इसमें भूलें हुई और आगे भी हो सकती हैं। हमारी भूलें हमें सुझाने वाले महानुभावों के हम आभारी होंगे।

समर्थ-समाधान का समाज में आदर एवं प्रचार अच्छा हुआ। प्रथम भाग की तो दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करनी पड़ी। दूसरा भाग भी समाप्त हो गया है। यह तीसरा भाग भी शीघ्र अप्राप्य होने वाला है। सामग्री तो चौथे भाग की भी सम्पादकजी ने तैयार कर ली है। अनुकूलतानुसार प्रकाशन होगा।

कागज स्याही के भाव बहुत बढ़ गये हैं। हमारे प्रेस में टाइप भी अधिक घिसे हुए काम में नहीं लेते, इसलिये पुनः ढलाई या नये खरीदने में भी खर्चा बढ़ता है। और कर्मचारियों का पारिश्रमिक भी बढ़ा है। इस कारण पुस्तक की लागत बढ़ गई है. फिर भी अन्यत्र प्रकाशित साहित्य से हमारी पुस्तकें सस्ती ही सिद्ध होती है। यह तो पाठक जानते ही हैं।

आशा है पाठक संतुष्ट ही होंगे।

मुझे आशा है कि श्री पितलियाजी का ज्ञान दिनोंदिन वर्द्धमान होगा। वे शुद्ध जैन तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार कर के जिनशासन की सेवा में आगे बढ़ते रहेंगे।

श्रीमान् सुश्रावक मोहनलालजी साहब चौधरी तिरकोइलूर निवासी उदार हृदय के धर्मप्रेमी महानुभाव हैं। आपके ज्येष्ठ

भ्राता श्रीमान् देवराजजी साहब का ६२ वर्ष की वय में गत भाद्रपद कृष्णा ४ सं. २०३५ को स्वर्गवास हो गया। श्रीमान् देवराजजी साहब सरल स्वभावी सुश्रावक थे, धर्मप्रिय थे और व्रत-प्रत्याख्यान से धर्म साधना करते रहते थे। आप सामायिक तो नित्य करते थे। आपकी पुण्यस्मृति में इस पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ श्रीमान् मोहनलालजी सा. जवरीलालजी, मदनलालजी, शांतिलालजी, धर्मीचन्दजी चौधरी तिरकोइलूर निवासी ने प्रकाशित करवाई है।

इसके अतिरिक्त ५०० प्रतियाँ प्रियधर्मी सुश्रावक श्रीमान् मोहनलालजी साहब सुराना मंड्या निवासी ने--

दृढ़धर्मी विरक्तात्मा श्रीमान् रतनलालजी, बा. ब्र. श्री बसंतीलालजी, लक्ष्मीलालजी, सुश्राविका सौ. श्रीमती छगनबाई और बा. ब्र. कुमारी हेमलता। ये सब भव्यात्माएँ वल्लभनगर के पोखरणा परिवार की–एक ही घर की है। पूरे परिवार ने संसार का त्याग किया और कुमारी मंजुबाला और ज्ञानप्रभा जोधपुर। इनकी दीक्षा २०-११-७८ को ज्ञानगच्छ के नायक आदर्श संत पूज्य तपस्वीराज श्री १००८ श्री चम्पालालजी म. सा. द्वारा जोधपुर में सम्पन्न हुई। इस ऐतिहासिक प्रसंग की खुशी में प्रकाशित करवाई है।

इन उदार गुरुभक्त धर्मप्रेमी महानुभावों को अनेकानेक धन्यवाद।

सैलाना १-३-१९७९ —रतनलाल डोशी

अनुक्रमणिका

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक | पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक | पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक पृष्ठांक

प्रश्नांक	पृष्ठांक

खास अशुद्धियों का शुद्धि-पत्र

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
२२	१२	एगे	०
५७	१	अशुद्ध	शुद्ध
६२	११	स्कन्ध	स्कन्ध से लगा कर
६६	९	प्रश्न १५८६ का गलत है।	

यथार्थ है—देवकुरु उत्तरकुरु की अवगाहना ३ गाउ, हरिवास रम्यकवास की २ गाउ और हेमवय हेरण्यवय की १ गाउ।

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१००	९	अभी	अभवी
११८	६	विभंग	०
१२२	२०	१८	१६
१७३	३	अर्थागम	अत्तागम
१७६	२३	गलान	अग्लान
२५०	३	विभाजों	विमानों
२७५	१४	आठ	छह

समर्थ-समाधान

भाग ३

१४८१ प्रश्न—चतुःस्पर्शी पुद्गलों में कौन-कौन से स्पर्श होते हैं ?

उत्तर—शीत, उष्ण, स्निग्ध व रूक्ष, ये चार स्पर्श होते हैं। शेष चार—मृदु, कर्कश, हलका व भारी, ये परमाणु पुद्गल से लगाकर सूक्ष्म अनंत प्रदेशी स्कंध तक नहीं होते। ये बादर अनंत प्रदेशी स्कंध बनने से (संयोग से) होते हैं। एक ही परमाणु में शीत व उष्ण में से कोई एक स्पर्श होता है, स्निग्ध व रूक्ष में से एक स्पर्श होता है। इस प्रकार एक परमाणु पुद्गल स्पर्श की अपेक्षा या तो शीत व स्निग्ध, या शीत व रूक्ष, या उष्ण व स्निग्ध या उष्ण व रूक्ष स्पर्शी होता है। द्विप्रदेशी यावत् सूक्ष्म अनंत प्रदेशी स्कंध में चारों स्पर्श हो सकते हैं।

१४८२ प्र.—बड़ी दीक्षा कौन-से चारित्र में समाविष्ट है ?

उत्तर—सामायिक चारित्र (छोटी दीक्षा) के बाद जो बड़ी दीक्षा (छेदोपस्थापनीय चारित्र) होती है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। तदनुसार बड़ी दीक्षा को छेदोपस्थापनीय चारित्र माना जाता है।

खास अशुद्धियों का शुद्धि-पत्र

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
२२	१२	एगे	०
५७	१	अशुद्ध	शुद्ध
६२	११	स्कन्ध	स्कन्ध से लगा कर
६६	९	प्रश्न १५८६ का गलत है।	

यथार्थ है—देवकुरु उत्तरकुरु की अवगाहना ३ गाउ, हरिवास रम्यक्वास की २ गाउ और हेमवय हेरण्यवय की १ गाउ।

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१००	९	अभी	अभवी
११८	६	विभंग	०
१२२	२०	१८	१६
१७३	३	अर्थागम	अत्तागम
१७६	२३	ग्लान	अग्लान
२५०	३	विमाणों	विमानों
२७५	१४	आठ	छह

समर्थ-समाधान

भाग ३

१४८१ प्रश्न–चतु:स्पर्शी पुद्गलों में कौन-कौन से स्पर्श होते हैं ?

उत्तर–शीत, उष्ण, स्निग्ध व रूक्ष, ये चार स्पर्श होते हैं। शेष चार–मृदु, कर्कश, हलका व भारी, ये परमाणु पुद्गल से लगाकर सूक्ष्म अनंत प्रदेशी स्कंध तक नहीं होते। ये बादर अनंत प्रदेशी स्कंध बनने से (संयोग से) होते हैं। एक ही परमाणु में शीत व उष्ण में से कोई एक स्पर्श होता है, स्निग्ध व रूक्ष में से एक स्पर्श होता है। इस प्रकार एक परमाणु पुद्गल स्पर्श की अपेक्षा या तो शीत व स्निग्ध, या शीत व रूक्ष, या उष्ण व स्निग्ध या उष्ण व रूक्ष स्पर्शी होता है। द्विप्रदेशी यावत् सूक्ष्म अनंत प्रदेशी स्कंध में चारों स्पर्श हो सकते हैं।

१४८२ प्र.–बड़ी दीक्षा कौन-से चारित्र में समाविष्ट है ?

उत्तर–सामायिक चारित्र (छोटी दीक्षा) के बाद जो बड़ी दीक्षा (छेदोपस्थापनीय चारित्र) होती है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। तद्नुसार बड़ी दीक्षा को छेदोपस्थापनीय चारित्र माना जाता है।

१४८३ प्र.—लोंकाशाह के धर्म (मार्गदर्शन) के विचार विशुद्ध एवं माननीय हैं, क्या यह मानना ठीक है ?

उत्तर—लोंकाशाह के धर्म (मार्गदर्शन) विचार ठीक लगते हैं।

१४८४ प्र.—हमारे माने हुए बत्तीस आगम निस्संदेह सत्य हैं, तथा सम्यग्दर्शन के हेतुभूत हैं, ऐसी मेरी आत्मा सर्वांग श्रद्धा करती है, सो क्या मेरी मान्यता ठीक है ?

उत्तर—"हंता गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।" इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं......। निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे......इन शास्त्रीय वाक्यों से स्पष्ट है कि वीतराग-कथित वाणी सर्वांग सत्य है। उस वाणी के अंश रूप ही ये आगम हैं। इसलिए बिना शंका-संशय—के सत्य मानने योग्य हैं। तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की दृढ़तापूर्वक श्रद्धा, यही सम्यग्दर्शन का घर है। अतः इस विषय के भी आपके विचार ठीक हैं।

१४८५ प्र.—तत्त्वज्ञान का परिचय करते ज्ञात होता है कि—ढाईद्वीप में प्रवर्तते हुए अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी भावों का ज्योतिष चक्र के साथ गाढ़ सम्बन्ध हो कर क्षेत्र में भिन्न प्रकार से हानि-वृद्धि होने से, शास्त्रों का क्षेत्र सम्बन्धी विषय, श्रद्धा के साथ ही सम्बन्ध रखता है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—यद्यपि प्रत्येक द्रव्य के स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव, भिन्न होते हैं, फिर भी संयोग से अन्य द्रव्य का प्रभाव, अन्य द्रव्यों पर व्यवहार-दृष्टि से पड़ता है, तदनुसार भरत, ऐरवत क्षेत्र में होने वाले अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल के

जीव और पुद्गल द्रव्य पर प्रभाव तो होता ही है। उस प्रभाव को ले कर व्यवहारनय से भरत-ऐरवत में होने वाले मनुष्य आदि की आयु, अवगाहना, दुःख, सुख, रुक्षता, स्निग्धता आदि का विवेचन किया है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु इनके नाम से दूसरी ही वस्तु बतावें, तो यह नहीं जँचता।

१४८६ प्र.—क्या ऐसा समझना ठीक है कि युगलिक क्षेत्र में काल का प्रभाव नहीं हो सकता, अर्थात् उनके यहाँ दस कल्पवृक्षों की ऋद्धि इस प्रकार की है कि वे चन्द्र-सूर्यादि के प्रकाश की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, तब तो कर्मभूमि के साथ ही काल का सम्बन्ध हो सकता है ?

उत्तर—युगलिकों के क्षेत्र में गृह-दण्ड, गृह-युद्ध, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण आदि रूप ज्योतिषी सम्बन्धी कई चीजों का प्रभाव नहीं पड़ता है। युगलिक क्षेत्र में दीपशिखा तथा ज्योतिशिखा नामके चौथे और पाँचवें कल्पवृक्ष अनेक स्थानों पर आए हुए हैं, उनके प्रभाव से वहाँ अन्धकार नहीं रहता। यही कारण है कि उनको ज्योतिषियों के अपेक्षा नहीं रहती है। इस अपेक्षा से वहाँ ज्योतिषियों का प्रभाव नही मानना ही ठीक प्रतीत होता है।

१४८७ प्र.—२८ नक्षत्रों में से अभिजित् नक्षत्र को द्रव्य तथा अवशेषों को गुण-पर्याय रूप समझना उचित है या नहीं ?

उत्तर—२८ नक्षत्रों में से अभिजित् नक्षत्र को द्रव्य रूप और शेष नक्षत्रों को उसके गुण-पर्याय रूप मानना ठीक नहीं है। क्यों कि अट्ठाईस नक्षत्रों के नाम, उनके स्वामी देवों के

नाम तथा नक्षत्रों के ताराओं की संख्या व उनका संस्थान (आकार) आदि का वर्णन शास्त्रों में बताया है। अतः इनको ज्योतिषी देव समझना ठीक है। परन्तु एक नक्षत्र को द्रव्य मान कर अवशेष नक्षत्रों को गुण-पर्याय रूप मानना ठीक नहीं है।

प्र. १४८८–' निरन्तर अन्तर्मुहूर्त तक आयु बंध होता है।' पंचसंग्रह के इस कथन में क्या रहस्य है ?

उत्तर–यद्यपि एक भव में एक ही बार आयुष्य का बंध होता है, तथापि उस आयुबंध में कितना समय लगता है ? यह प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद के अंत में आए आकर्षणा के वर्णन से स्पष्ट है। यही वर्णन पंचसंग्रह में भी बताया गया है।

१४८९ प्र.–वर्तमान युग के जो विद्वान् साधु, शिष्यों को शास्त्र में प्रवीण बनाने के बजाय लौकिक अध्ययन करवाते हैं, क्या उनमें आपश्री को कोई दिशा-भूल अनुभव होती है ?

उत्तर–शिष्यों को शास्त्र-ज्ञान, साधु-समाचारी आदि में प्रवीण बनाना ही गुरुओं का प्रधान कर्तव्य है। ऐसा करने से ही गुरु-शिष्यों के ऋण से मुक्त होते हैं। इसको छोड़ कर मान-प्रतिष्ठा आदि में लग जाना तो दिशाभूल मालूम होती है।

१४९० प्र.–पाँच समकित के विषय में भेद-विज्ञान की इच्छा है, सो क्या संक्षेप में मार्गदर्शन मिल सकता है ?

उत्तर–क्षायिक समकित–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय, समकित-मोहनीय, इन सात प्रकृतियों का क्षय होने से क्षायिक-समकित होती है।

इसकी प्राप्ति केवल मनुष्य के भव में ही संभव है, परंतु इस समकित वाले जीव, चारों गति में मिलते हैं। इस समकित की प्राप्ति के पूर्व यदि जीव ने आयुष्य न बाँधा हो, तो उसी भव में मोक्ष पाता है। यदि नैरयिक या देव का आयुष्य बाँधा हो, तो वह भव कर के मनुष्य हो कर मोक्ष पाता है। तिर्यंच या युगलिक का आयुष्य बाँधा हो, तो चौथे भव में मोक्ष पाता है। इससे अधिक संसार में रहता ही नहीं। यह समकित आने के बाद वापिस नहीं जाती है।

उपशम समकित—पूर्वोक्त सातों प्रकृतियों के प्रदेशोदय व विपाकोदय दोनों को उपशमावे एवं दोनों प्रकार के मिथ्यात्व जिसमें रुक जावे, उसे 'उपशम समकित' कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है। यह समकित जीव को एक भव में उत्कृष्ट दो वार व अनेक भवों में पाँच वार ही आ सकती है, इससे अधिक नहीं।

सास्वादन समकित—उपशम समकित से गिरता हुआ जीव सास्वादन में होता हुआ मिथ्यात्व में जाता है। अतः यह समकित भी जीव को कुल पाँच वार से अधिक प्राप्त नहीं होती। इस समकित की उत्कृष्ट स्थिति छः आवलिका की होती है। इसमें न तो रसोदय होता है न प्रदेशोदय।

क्षयोपशम समकित—क्षयोपशम समकित में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से क्रमशः ४, ५ व ६ प्रकृतियाँ क्षय करे और शेष ३, २ व १ को उपशमावे, उसे क्षयोपशम समकित होती है। इसमें प्रदेशोदय होता है। यह समकित जीव को एक भव में

उत्कृष्ट प्रत्येक हजार (दो हजार से ले कर नौ हजार) वार तक आ सकती है, तथा अनेक भव में उत्कृष्ट असंख्य बार आ सकती है। इस समकित की उत्कृष्ट स्थिति छासठ सागरोपम झाझेरी है। इस समकित वाला जीव भी देशन्यून अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से ज्यादा संसार में नहीं रह सकता।

वेदक समकित—इस समकित में समकित-मोहनीय का तो नियम से उदय रहता है। शेष प्रकृतियों का क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम होता है। क्षायिक के अलावा शेष चारों समकित चारों गति में प्राप्त हो सकती हैं। यह संक्षेप में समकित का वर्णन है। ※

१४९१ प्र.—जिन-शासन में देवी-देवताओं का पूजन मिथ्यात्व समझा जाता है, तो क्या यह देवी-देवताओं के लिए अपमानजनक नहीं है और वे अप्रसन्न हो कर जिन-शासन की हानि नहीं कर सकते हैं?

उत्तर—वीतराग देव के उपासकों को भवनपति आदि चार जाति के देव व देवियों को पूजने में 'प्रवृत्ति मिथ्यात्व' मानना चाहिए। प्रवृत्ति रूप आंशिक मिथ्यात्व से सामान्य श्रावक नहीं बच पाता है, ऐसा उववाई सूत्र में बताया है। श्रावक-प्रतिमा धारण करने पर उनके यह प्रवृत्ति-मिथ्यात्व भी छूट जाता है। जो देव सम्यग्दृष्टि है, वे तो इसे अपमानजनक नहीं मानते। यदि कोई मिथ्यात्वी देव समझ ले, तो उसका

※ विस्तृत वर्णन 'मोक्षमार्ग' द्वितीयावृत्ति पृ. ५३-५७।

कोई उपाय नहीं, और इसका परिणाम भी शासन के लिए हानिकारक नहीं है ×।

१४९२ प्र.—वर्तमान युग में समस्त भारत 'राजा-रहित' बन गया है, तथा आचारांग सूत्र में ऐसी आज्ञा है कि राजा-रहित क्षेत्र मे नहीं विचरना, तो क्या वर्तमान युग में धर्म-विच्छेद समझना ?

उत्तर—मेरे ध्यान से भारत अभी राज्य-रहित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारत में राज्य सम्बन्धी कानून-कायदे की सत्ता अमुक-अमुक के हाथ मानी जाती है। तहसीलदार, कलेक्टर, कमिश्नर, राज्यपाल, राष्ट्रपति, मुख्यमन्त्री, प्रधान-मन्त्री आदि अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति दिखाई देती है। मिलिट्री, पुलिस आदि का कार्य भी चालू है। इन्कमटेक्स, सेलटेक्स, अन्यान्य करों की वसूली भी की जाती है। तथा टिकिट, नोट, सिक्के आदि भारत-सरकार के नाम से चलते हैं। ऐसी स्थिति में भारत को राजा-रहित कैसे माने ? भारत की व्यवस्था रूपांतरित हुई है, पर राज्य-रहित नहीं। अतः साधुओं का विचरना योग्य है और धर्म-विच्छेद भी नहीं है।

१४९३ प्र.—बत्तीस सूत्र पढ़ना श्रमणों का कार्य है और श्रावकों के लिए सामायिक, प्रतिक्रमण, थोकड़ों का ज्ञान, जैसे—छह् काया के बोल, नव-तत्त्व, कर्म-प्रकृति, दण्डक, गुणस्थान-

× हम सुगुरु, सुदेव व सुधर्म को मानते हैं, लेकिन कुदेवादि की निन्दा—भर्त्सना भी नहीं करते हैं। स्थानांग सूत्र में तो देवों की आशातना नहीं करने का कहा भी है। जो लौकिक देव हैं, उनको सुदेव नहीं समझना। यह

द्वार, गति-आगति, वासठिया आदि परम्परा से चला आ र
कार्य बहुमाननीय है, क्या ऐसी मान्यता ठीक है?

उत्तर—श्रावकों को सामायिक, प्रतिक्रमण व थोकड़ों
ज्ञान करना जो आपने लिखा, सो तो है ही, परन्तु इसके उ
रांत सूत्रों का पठन-पाठन भी कर सकते हैं। क्योंकि श्राव
के भी ज्ञान के चौदह अतिचार बताए हैं। इससे तथा समवायां
व नंदी के "सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं" इस पाठ से त
उत्तराध्ययन के—"निग्गंथे पावयणे सावए सेवि कोविए" त
"सीलवंता बहुस्सुया" इन पाठों से तथा अन्यान्य सूत्र-पाठो
श्रावकों को सूत्र पढ़ना उचित साबित होता है। अतः योग
श्रावक गुरु आज्ञा निर्देशानुसार सूत्र पढ़ सकते हैं॰।

*प्र. १४९४—क्या मारणांतिक समुद्घात आयुकर्म की उदी
रणा है?*

उत्तर—एकांत रूप से तो नहीं, पर अपेक्षा से मारणांति

श्रद्धा को प्रथम सीढ़ी है। यों काने को काना मत कह कर नहीं पुकारन
दशवैकालिक सूत्र में कहा है, लेकिन उसे दो आंखों वाला समझना भ
मिथ्या है। इसमें मानापमान का प्रश्न नहीं।

॰ श्रावक सूत्र नहीं पढ़ सकते, इस मान्यता का प्रारम्भ तब से हुआ
जब नामधारी साधुओं व यतियों में शिथिलाचार का प्रवेश हो गया
तदा श्रावक सूत्र वांचन करेंगे, तो हमारी पोल खुल जाएगी। इसी भ
से अड़ंगा लगाया है। अन्यथा वीतराग-वाणी को सभी योग्य-पात्र, अवस
प्राप्त होने पर पढ़ सकते हैं। विशेष जानकारी के लिए सम्यग्दर्शन ५
अक्टूबर ६७ पृ. ५५७ आदि।

समुद्घात को आयुष्य कर्म की उदीरणा कहा जा सकता है। वह समझ-पूर्वक या स्वाभाविक रूप से भी हो सकती है। इस प्रकार उदीरणा के दो भेद भी किए जा सकते हैं- १ समझपूर्वक २ स्वाभाविक रूप से। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वेदनीय और आयुष्य-कर्म की उदीरणा छठे गुण-स्थान से आगे नहीं है।

१४९५ प्र.–क्या ॐ णमो अरिहंताणं आदि बोलना उचित है ?

उत्तर–ओमकार यह मूलतः अन्यतीर्थियों का मंत्र है। ऐसा श्री उत्तराध्ययन आदि सूत्रों से स्पष्ट होता है। नमस्कार मंत्र तो अनादि काल से है। जब उसका रूप 'णमो अरिहंताणं' गणधर भगवंतों ने बताया है, तो किसी के द्वारा घटाव-बढ़ाव करना कैसे उचित माना जाय ? इतिहास में उल्लेख मिलता है कि सिद्धसेन दिवाकर ने संस्कृत भाषा का व्यापक प्रचार जानकर नमस्कारमंत्र के संस्कृत अनुवाद का यत्न किया था, फलस्वरूप भारी प्रायश्चित्त दिया गया था। क्या ॐ लगाने वाले भगवान् की आशातना नहीं करते ? प्रियधर्मियों को ऐसा नहीं करना चाहिए।

१४९६ प्र.–ज्ञान-शक्ति जोरदार बनाने के लिए हमेशा 'थवथुई मंगल' (स्तव-स्तुति मंगल) की खूब आराधना करता हूँ, सो उत्तम है क्या ?

उत्तर–यह मार्ग बहुत ठीक व शास्त्र-सम्मत है।

१४९७ प्र.–समवायांग सूत्र में समवायांग छापे का पृ.

२८९ वेद सूत्र "कइविहेवेए" इसके आगे "तेणं कालेणं तेणं समएणं कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं जाव गणहरा सावच्चा निरवच्चा वोच्छिण्णा" इस पाठ में "कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं" यहाँ कप्पस्स का क्या अर्थ होना चाहिए ? टीकाकर ने टीका मे एक अर्थ 'कल्प भाष्य' किया है, वाचनान्तर के नाम से 'पर्युषण कल्प' ऐसा अर्थ करते हैं। कल्पसूत्र भाष्य और 'पर्युषण कल्प' ये सब पीछे के हैं। अंगसूत्र में इनका प्रमाण कैसे आवे ? अतः क्या अर्थ करना ?

उत्तर–जोधपुर के संयुक्त चातुर्मास में इस पाठ पर संयुक्त विचारणा निम्न प्रकार हुई थी–

"यहाँ दो वस्तु विचारणीय हैं–१ कल्पसूत्र जो सूत्र रचना-काल में नही था, उसका समवायांग में उल्लेख कैसे ? २ शास्त्र रचना-काल में गणधर विद्यमान थे, तब "निरवच्चा वोच्छिण्णा" कैसे कहा ?

इस विचारणा का निर्णय निम्न प्रकार हुआ था–

"उपरोक्त पाठ कप्पस्स.......वोच्छिण्णं तक पाठ गणधर के अलावा किसी पूर्वधारी द्वारा रचा गया हो और सूत्र-लेखन काल में आचार्य देवर्द्धिगणि ने उसका इसमें संकलन कर दिया हो ऐसा सम्भव है।"

समालोचना पर से यह मालूम होता है कि शास्त्रों के पाठों में खास भलावण तो थी ही नहीं। जहाँ जितना कहने को होता है, वहाँ उतना फरमा देते, परन्तु भलावण नहीं देते। हाँ, सूत्र लेखनकाल में जो अधिकार एक स्थान पर लिखा गया,

उसको पुनः-पुनः लिखने की मेहनत ज्यादा पड़ने से भलावण लगाई गई है। अतः भलावण शास्त्र-लेखन काल में लगाई हुई जँचती है।

श्री भगवती में दशाश्रुतस्कंध, पन्नवणा, जम्बूद्वीपपन्नति अनुयोगद्वार आदि की भलावण आती है और भी अनेक अंग-सूत्रों में उववाई की आती है, इत्यादि भलावण को देखने से यही प्रतीत होता है कि यह शास्त्र-लेखन-काल की है, शुरू की नहीं। अतः आगे की पीछे व पीछे की आगे क्रम का ध्यान न रखते हुए भलावण दी जाती है। इस प्रकार देने में कोई बाधा भी दिखाई नहीं देती।

१४९८ प्र.—क्या यह ठीक है कि सब से अधिक पाप मन का,उससे वचन का अधिक, तथा उससे काया का अधिक होता है ? बन्ध में कायिक वृत्ति की मुख्यता होती है, या काय-योग की ?

उत्तर—निःकेवल मन का पाप, नि.केवल वचन और निः-केवल काया के पाप से अधिक है। उससे निःकेवल वचन का कम, जैसे खराब भाव न होते हुए भी कुत्ते आदि को अश्लील शब्द बोल देते हैं। उससे भी निःकेवल काया का कम। जैसे ईर्या में उपयोग रख कर चलते हुए भी जीवों की सूक्ष्मता एवं दृष्टि की मंदता के कारण जीव विराधना हो जाय। निःकेवल मन के पाप की अपेक्षा मन के साथ वचन हो जाने से पाप अधिक होता है, इससे भी अधिक तीनों योग शामिल होने से होता है। जो मन का पाप कम कहते हैं, उसका कारण यह

समझना कि उस मन के साथ वचन व काययोग नहीं है। यदि उसके साथ वचन व काय-योग हो, तो पाप पहले की अपेक्षा अधिक होगा। परन्तु केवल वचन व केवल काया की अपेक्षा केवल मन का पाप कम नहीं समझना। इसके लिए देखिये- पन्नवणा पद २३ उ. २ में निःकेवल काययोग के बन्ध की अपेक्षा काय और वचन योग वालों का बन्ध २५, ५०, १०० व १००० गुणा, बेइन्द्रिय से असन्नी पंचेन्द्रिय तक क्रमशः होना बताया है और सन्नी पंचेन्द्रिय मनयुक्त होने से उसके एकेन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट ७० क्रोड़ाक्रोड़ गुणा बन्ध हो सकता है। सारांश यह है कि मन का बन्ध ज्यादा है, उससे वचन का कम व उससे काया का कम।

१४६६ प्र.—तंदुल-मच्छ जो क्लिष्टतम अध्यवसायों से मर कर सातवीं नरक में जाता है, उसका उल्लेख भगवती सूत्र के मूल में कहाँ है?

उत्तर—भगवती शतक २४ उ. १ में सातवीं नरक में जाने-वाले तिर्यंच, अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाले से ले कर हजार योजन तक की अवगाहना वाले हो सकते हैं। इसके दरम्यान (चावल जितनी अवगाहना वालों में) तंदुल-मच्छ की भी अवगाहना आ गई है और मच्छों के नामों में 'तंदुल-मच्छ' का नाम पन्नवणा के प्रथम पद में आया है। तथा श. २४ उ. १ के अनुसार अन्तर्मुहूर्त से ले कर क्रोड़ पूर्व तक की आयु वाले तिर्यंच सातवीं नरक में जा सकते हैं। उपरोक्त प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि तंदुल-मच्छ से छोटी अवगाहना

वाला व आयु वाला भी सातवीं नरक में जा सकता है, फिर तंदुल-मच्छ जावे तो आश्चर्य ही क्या ? तंदुल-मच्छ के लिए सातवीं नरक में जाने का खुला विवरण तो मूलपाठ में कहीं देखने में नहीं आया। दिगम्बर ग्रंथों में इसका विवरण दिया है, ऐसा सुना है। ऊपर के प्रमाणों से वह प्रमाणित भी होता है।

१५०० प्र.—भगवती सूत्र में श्री गौतमस्वामी ने प्रश्न किया कि इन्द्र वन्दन-नमस्कार करता या बोलता है, तो भाषा सावद्य होती है या निरवद्य ? भगवान् ने उत्तर दिया—मुख की यतना कर के बोले, तो निरवद्य। पूछना यह है कि तीर्थंकर देव जिस वक्त बोलते हैं, तो किस उपकरण का उपयोग करते हैं ? दीक्षा से निर्वाण पर्यन्त का वर्णन अपेक्षित है।

उत्तर—जिस प्रकार मुनि के आहारादि करते समय बोलने का प्रसंग आवे, तो वे हाथ आदि की यतना कर के बोलते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर देव संभवतया हाथ से यतना कर के बोलते हैं। मुनियों के तो उपयोग की सावधानी निरन्तर न रहे, तो किसी समय भूल भी हो जाती है, परन्तु प्रभु तो दीक्षा अंगीकार करते ही चार ज्ञान के धारक होते हैं, उसके बाद यथासमय केवलज्ञान भी हो ही जाता है। उनके उपयोग में असावधानी होना संभव नहीं है। अतः उपरोक्त प्रकार से ही उनका बोलना संभावित होता है।

१५०१ प्र.—क्या अपर्याप्त अवस्था में उपशम समकित होती है।

उत्तर—कितनेक तो अपर्याप्तावस्था में उपशम समकित

मानते हैं, कितनेक नहीं। इस प्रकार इस विषय में दो मत हैं पंचसंग्रह का मत नहीं मानने का होगा, ऐसी संभावना है।

१५०२ प्र.--सोपक्रमी आयुष्य वाले अपना आयुष्य शीघ्र कैसे भोग सकते हैं ?

उत्तर--सोपक्रम आयुष्य वालों का आयुष्य मारणांतिक समुद्घात से तो नहीं, किन्तु उपक्रम द्वारा शीघ्र भोगा जाता है। उस समय मारणांतिक समुद्घात भी हो सकती है। निरुप-क्रमी आयुष्य तो मारणांतिक समुद्घात से भी नहीं घटता है*।

१५०३ प्र.--विसंयोजना किसे कहते हैं? (समर्थ-समाधान भाग १ प्रश्न ३३५ से संबंधित)।

उत्तर-- अनन्तानुबंधी कषाय का वर्तमान में उदय व सत्ता न हो पर कालान्तर में अन्य प्रकृतियों की सहायता से पुनः उदय व सत्ता हो जाय, इसमें जिस काल में अनन्तानुबंधी का उदय व सत्ता नहीं रहती, उसे विसंयोजना कहते हैं। क्षपणा (क्षय) होने के बाद तो पुनः उदय या सत्ता हो ही नहीं सकती है। किन्तु विसंयोजना होने पर वर्तमान में उदय और सत्ता न होते हुए भी कालान्तर में उदय व सत्ता हो जाती है। (स.स. भाग २ पृ. ३९९ पर भी देखिए।)

१५०४ प्र.-- तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में भी बन्ध होता है क्या ?

---

* विशेष वर्णन सम्यग्दर्शन ५ फरवरी ६१ पृ. ८८, २० मार्च ६१ पृ. १६८ पर उपलब्ध है।

उत्तर–तेरहवें गुणस्थान में एक सातावेदनीय का ही वन्ध होता है। १४ वें गुणस्थान में बन्ध बिलकुल नहीं होता है।

१५०५ प्र.–तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में किन प्रकृतियों का उदय रहता है ?

उत्तर–नीचे लिखी ४२ प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है १ औदारिक शरीर २ औदारिक अंगोपांग ३ अस्थिर नाम ४ अशुभ नाम ५ शुभविहायोगति नाम ६ अशुभ-विहायोगति नाम ७ प्रत्येक नाम ८ स्थिर नाम ९ शुभ नाम (१०–१५) ६ संस्थान १६ अगुरुलघु नाम १७ उपघात नाम १८ पराघात नाम १९ उच्छ्वास २० वर्ण नाम २१ गंध नाम २२ रसनाम २३ स्पर्श नाम २४ निर्माण नाम २५ तेजस् शरीर नाम २६ कार्मण शरीर नाम २७ व्रजऋषभनाराच-संहनन २८ सुस्वर नाम २९ दुस्वर नाम ३० सातावेदनीय ३१ असातावेदनीय ३२ मनुष्यायु ३३ सौभाग्य नाम ३४ आदेय नाम ३५ यशकीर्ति नाम ३६ त्रस नाम ३७ बादर नाम ३८ पर्याप्ता नाम ३९ पंचेन्द्रियजाति नाम ४० मनुष्य-गति नाम ४१ जिन नाम ४२ उच्च गौत्र। इन में से शुरु की २९ छोड़ कर शेष १३ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में, बहुत जीवों की अपेक्षा समझना चाहिये। एक जीव अपेक्षा साता या असाता एक ही वेदनीय का उदय रहता है। अतः १२ प्रकृति का उदय समझना।

१५०६ प्र.–तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में उदीरणा किन प्रकृति की होती है ?

उत्तर–तेरहवें गुणस्थान में दो वेदनीय व मनुष्यायु, इन तीन प्रकृति के सिवाय ३९ प्रकृति की उदीरणा हो सकती है। १४ वें गुणस्था में उदीरणा नहीं है।

१५०७ प्र.–तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सत्ता किन प्रकृतियों की है ?

उत्तर–तेरहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें के द्विचरम समय (अन्तिम समय से पूर्ववर्ती समय) तक ८५ प्रकृति की सत्ता बताई है। १ देवगति २ देवानुपूर्वी ३ शुभविहायोगति ४ अशुभविहायोगति ५–९ पाँच वर्ण १०–११ दो गंध १२–१६ पाँच रस १७–२४ आठ स्पर्श २५–२९ पाँच शरीर ३०–३४ पाँच बन्धन ३५–३९ पाँच संघातन ४० निर्माणनाम ४१–४६ छह संहनन ४७–५२ छह संस्थान ५३–५८ स्थावर दशक की अस्थिर आदि अन्त की छह प्रकृतियां ५९ अगुरूलघु ६० उपघात ६१ पराघात ६२ उच्छ्वास ६३ अपर्याप्त ६४–६५ दो वेदनीय ६६ प्रत्येक ६७ स्थिर ६८ शुभ ६९–७१ तीन उपांग ७२ सुस्वर ७३ नीचगोत्र ७४ मनुष्यगति ७५ मनुष्यानुपूर्वी ७६ मनुष्यायु ७७ त्रस ७८ बादर ७९ पर्याप्त ८० यशकीर्ति ८१ आदेय ८२ सौभाग्य ८३ तीर्थंकर ८४ उच्चगोत्र और ८५ पंचेंद्रिय जाति। ये १४८ प्रकृति की अपेक्षा सत्ता बताई है। १५८ की अपेक्षा ९५ प्रकृति समझना। ५ बन्धन के स्थान पर १५ बन्धन समझना एवं चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में बहुत जीवों की अपेक्षा १४ एवं एक जीव की अपेक्षा १३ प्रकृति की सत्ता है। जो १४ वें गुणस्थान में १३ या १२

प्रकृति का उदय बताया है, उसमें मनुष्यानुपूर्वी शामिल करने से १३ या १४ बन जाती है। किसी का कहना है कि मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता न मान कर उदय वाली प्रकृतियों को ही सत्ता में चरम समय मानना चाहिये।

१५०८ प्र.—भगवान् महावीर के शासन मे सर्वप्रथम केवलज्ञान किसको हुआ तथा सर्वप्रथम मोक्ष कौन गया ?

उत्तर—महावीर स्वामी को केवलज्ञान होने के चार वर्ष बाद उनके शासनवर्ती साधु-साध्वी मोक्ष पधारने शुरु हो गए थे। ऐसा वर्णन कल्पसूत्र में आया है। पर प्रश्न-कथित वर्णन देखने में नहीं आया।

१५०९ प्र.—ढ़ाईद्वीप में सूर्य-चन्द्र का कितना अन्तर है और कितने-कितने अन्तर पर रहते हैं।

उत्तर—सूर्य व चन्द्र की ऊँचाई व नीचाई मे ८० योजन का अन्तर सर्वत्र समान है। परन्तु आगे-पीछे की अपेक्षा ढ़ाई द्वीप मे अन्तर सदा व सर्वत्र समान नहीं रहता, क्योंकि पूर्णिमा के दिन सूर्यास्त के समय चन्द्रोदय होता है। उस दिन दूरी उदयक्षेत्र से अस्त के क्षेत्र जितनी होती है। उस क्षेत्र का अंतर भी सर्वत्र समान नहीं होता। कहीं हजारों का तो कहीं लाखों योजन का अन्तर रहता है। जब अमावस्या होती है, तो कुछ समय के लिए चन्द्र-सूर्य साथ ही हो जाते हैं। फिर पूर्णिमा तक क्रमशः अन्तर बढ़ता जाता है। बाद में अमावस तक अन्तर घटता जाता है। इस प्रकार प्रतिमास होता ही रहता है।

चौड़ाई में चन्द्र-सूर्य के सब मण्डल ५१० योजन में आए

हुए हैं। कभी सीध की अपेक्षा मण्डल साथ में आ जाते हैं तो कभी अगल-बगल में कुछ दूरी पर रह जाते हैं। इस प्रकार अगल-बगल में तथा आगे-पीछे में अन्तर समान नहीं रहता।

१५१० प्र.–उत्तराध्ययन के दूसरे अध्ययन की टीका में 'वध परीषह' पर खंदकजी का उदाहरण आया। खंदकजी आराधक हुए या विराधक ?

उत्तर–स्कंधकाचार्य के पाँचसौ शिष्य आराधक हो कर मोक्ष पधारे और खुद खंदकजी विराधक हो कर अग्निकुमार देवों में उत्पन्न हुए हैं।

१५११ प्र.–क्या गणधर विराधक होते हैं ? तथा देवलोक में जाते हैं ?

उत्तर–जो त्रिपदी में चौदह पूर्व रचते हैं, उन्हें 'गणधर-पद' मिलता है। वे गणधर विराधक नहीं होते और देव-लोकादि में न जा कर उसी भव में मोक्ष जाते हैं, तथा जो साधु-समुदाय के नायक रूप गणधर पद वाले हों, यानि गण (साधुओं के समूह) को धारण करने वाले गणधर हों, वे आराधक या विराधक दोनों में से कोई भी हो सकते हैं। आचार्यादि की पदवी की भाँति यह गणधर की भी एक पदवी है। जो खास तीर्थंकरों के गणधर होते हैं, वे उसी भव में मोक्ष जाते हैं।

१५१२ प्र.–प्रत्येक मुहूर्त का गर्भज मनुष्य काल कर के कहाँ तक जाता है ?

उत्तर–प्रत्येक मुहूर्त (२ से ९ तक) के गर्भज मनुष्य काल

कर के मनुष्य या तिर्यंच में जा सकते है, पर देव-नरक में नही जाते ।

१५१३ प्र.—प्रत्येक मास के गर्भज मनुष्य काल कर के कहाँ तक जाते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक मास वाले जीव, नरक में पहली नरक तक तथा देवों में भवनपति से ले कर दूसरे देवलोक तक एवं मनुष्य-तिर्यंच में जा सकते हैं ।

१५१४ प्र.—प्रत्येक वर्ष वाले मनुष्य कहाँ जाते हैं ?

उत्तर—किसी भी स्थान पर जा सकते हैं । नौ वर्ष की उम्र में मुक्ति भी हो सकती है ।

१५१५ प्र.—पाँचवें आरे में जन्मे जीव को उपशम व क्षायिक समकित नही होती, वह उपशम और क्षपक-श्रेणी प्राप्त नही कर सकता, तथा दस बोलों का विच्छेद है । इन बातों का खुलासा आगमों के मूलपाठ में कहां है ? दस बोलों में से छुटक भी हों, तो उनका प्रमाण बताने की कृपा करें ।

उत्तर—**मण-परमोही-पुलाए आहारग खवग उवसम कप्पो ।**
संजमतिअ केवलि, सिज्झणा य जम्बूम्मि वुच्छिण्णा ।।

अर्थ—१ मन.पर्यवज्ञान २ परमावधिज्ञान ३ पुलाकलब्धि ४ आहारक शरीर ५ क्षपकश्रेणी ६ उपशमश्रेणी ७ जिनकल्प ८ संयमत्रिक—परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ९ केवलज्ञान-१० सिद्धि प्राप्ति । इन दस बोलों का विच्छेद जम्बूस्वामी सिद्ध होने के बाद बताया है । यह विशेषावश्यक भाष्य की २५७३ वीं गाथा है ।

ऊपर जिन दस बोलों का विच्छेद कहा, उनमें से कतिपय बोलों की सिद्धि आगमों के मूल-पाठों से होती है। भगवती श. २५ उ. ६ के बारहवें कालद्वार के मूलपाठ से स्पष्ट है कि पाँचवें आरे का जन्मा हुआ पुलाक-लब्धि वाला नहीं हो सकता। इसी शतक के ७ वें उद्देशे के बारहवें द्वार से स्पष्ट है कि परिहारविशुद्धिक आदि संयमत्रय नहीं होते हैं। जब यथाख्यात सयम नही होता, तो विना यथाख्यात के केवलज्ञान तथा केवलज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, यह तो अनेक आगम प्रमाणों से स्पष्ट है ही। जो जीव उपशम या क्षपक-श्रेणी करते है, वे ८ वें गुणस्थान से ९, १० वें में होते हुए उपशम वाले ११ वें में व क्षपक वाले १२ वें में जाते हैं। दोनों श्रेणियों के दरम्यान सूक्ष्मसंपराय नामक १० वाँ गुणस्थान तो आता ही है तथा इस १० वें गुणस्थान में सूक्ष्म-संपराय संयम ही होता है। ऊपर कथित प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि पाँचवें आरे के जन्मे हुए को सूक्ष्म-संपराय नही हो सकता। इसलिए दोनों श्रेणियाँ भी नहीं हो सकती। परम अवधि वापिस गिरता नहीं, वह देवों में नहीं जा सकता, क्योंकि देवों में इतना अवधिज्ञान नहीं होता। अतः उसे तो केवलज्ञान अवश्य ही प्राप्त होता है। इसीलिए टीकाकारों ने जो कहा है कि परमावधि वाले को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होता है, यह कथन संगत है। अतः पाँचवें आरे में जन्मे हुए को परम अवधि भी नहीं हो सकता।

दस बोलों में से सात बोलों की पुष्टी आगम-प्रमाण द्वारा की जा चुकी। बाकी तीन बोल बचे हैं—आहारक-

लब्धि, मनःपर्यवज्ञान और जिनकल्प। इनकी संगति इस प्रकार होती है—पाँचवें आरे में श्री भद्रबाहुस्वामी तक चौदह पूर्व का ज्ञान था। यद्यपि पुलाकलब्धि तो नव पूर्वधारी को भी हो सकती है, तथापि पाँचवें आरे में जन्मे हुए को पुलाकलब्धि का निषेध बताया है, जो ऊपर बताया जा चुका है। इसी तरह आहारकलब्धि, मनःपर्यवज्ञान व जिनकल्प का निषेध (विच्छेद) बताया गया है, वह ठीक ही लगता है। उपशम व क्षायिक-समकित का बोल दस विच्छेद के बोलों में तो नहीं है। ये दोनों समकित पाँचवें आरे के जन्मे हुए को नहीं होती है—ऐसा मूलपाठ में कहीं देखने में आया हो, याद नहीं है। किन्तु भगवती श. १, ३, ८ में आया है कि—"**एगंतपंडिए णं मणूए आउयं सिय पगरेइ सिय णो पगरेइ**" इसकी टीका में लिखा है कि "सम्यक्त्वसप्तके क्षपिते न बध्नाति आयुः साधुः अर्वाक् पुनर्बध्नाति" परभव का आयुष्य बाँधने के पहले क्षायिक समकित आ जाय, तो वह मनुष्य, उसी भव में मोक्ष जाता है। लेकिन पाँचवें आरे में जन्मे हुए को मोक्ष नहीं होती, यह ऊपर बताया जा चुका है। अतः आयु-बन्ध के पहले तो पाँचवें आरे के जन्मे हुए को क्षायिक-समकित का निषेध इस टीका से होता है।

१५१६ प्र.—स्थानांग सूत्र के स्थान ४ उ. २ में एक चौभंगी में ऐसा बोल है कि एक जीव अपना भवान्त नहीं करे किन्तु पर का करे*। इसके भाव का अर्थ टब्बार्थ में पू. श्री

* प्रश्नोल्लेखित चोभंगी सूत्र ४६ में इस प्रकार है—चत्तारि पुरिसजाया

धर्मसिहजी म. सा. ने '*अभव्य के तारे तिरे*' किया। टीकाकार ने तो अचरिम शरीरी आचार्यादि किया है। इस आदि शब्द से अभव्य का भी ग्रहण हो तो बाधा नहीं लगती। किन्तु दूसरे प्रमाण से साबित करना पड़ेगा। इसलिए मैंने भगवती-पन्नवणा के उन जीवों का उल्लेख किया कि जो मिथ्यात्वी होते हुए भी क्रिया के बल से ग्रैवेयक तक जाते हैं। ऐसे लोग शुद्ध प्ररूपणा कर के लोगों को धर्म सम्मुख कर सकते हैं। दीपक-समकिती भी इसमें आता है। *ये प्रमाण तो मेरे पास है। किन्तु ठाणांग* की कोई दूसरी चौभंगी भी होगी, जिससे इनका समर्थन होगा। मेरे ध्यान में उ. ४ की सू. ३४४ की यह चौभंगी आई-

"**सेयंसे णाममेगे सेयंसे, सेयंसे नाममेगे पावंसे, पावंसे णाममेगे एगे सेयंसे, पावंसे णाममेगे पावंसे।**" इसके तीसरे भंग में उपरोक्त बात आती हो, तो विचार फरमावें। इसमें टीकाकार ने उदायीनृप घातक का उदाहरण दिया है। क्या इसे *प्रमाण में दे सकते हैं ?*

इसके सिवाय और कोई चौभंगी या आगम प्रमाण हों तो बताने की कृपा करें।

उत्तर--आपकी लिखी चौभंगी मे धर्मसिहजी म. सा. ने जो अर्थ किया है, वह भी ठीक है। उसकी पुष्टि टीका में

पण्णत्ता, तं जहा-आयंतकरे णाममेगे णो परतकरे १ परतकरे णाममेगे णो आयंतकरे २ एगे आयतकरेवि, परंतकरेवि ३ एगे णो आयंतकरे णो परंतकरे ४। *यहाँ दूसरे बोल की पृच्छा की गई है*-परंतकरे णाममेगे णो आयंतकरे।

दिए आदि शब्द से होती है। आपकी दी हुई ठाणांग ४, ३, ४ की सू. ३४४ की चौभंगी का तीसरा बोल भी वहुत अनुकूल बैठता है। उदायीनृप-मारक को भी अभव्य कहते हैं। सू. ३४९ में जो सालवृक्ष की चौभंगी दे कर चार प्रकार के आचार्य वताए हैं, उसमें तीसरे नम्वर के आचार्य जो दिए हैं, उसमें भी 'अंगारमर्दक' सरीखे आचार्य का समावेश हो सकता है। उदाहरण तो किसी एक का ही दिया जाता है, पर समावेश अनेक का हो सकता है। इसी तरह ३६० वें सूत्र में जो अन्तिम चौभंगी दी है, उसके तीसरे बोल का पुरुष 'विषकुंभ अमृतढक्कन' जैसा हो, उसका भी इसमें समावेश होता है। क्षीर-मधु-सर्पिराश्रव लब्धि भी अभव्य में होती है, ऐसा 'राजेन्द्र-कोष के लब्धियों के वर्णन मे दिया है।' उसकी वाणी ऐसी मधुर एवं प्रिय होती है, तो उसकी वाणी से प्राणियों को बोध क्यों नहीं हो सकता ? चूड़ी और स्तंभ जैसे निर्जीव पदार्थ या आम्र जैसे मूक पदार्थो से भी बोध प्राप्त हुआ है--तिरे हैं, तो आश्चर्य ही क्या ? क्योंकि वक्ता तथा उसकी वाणी तथा चूड़ी आदि तो निमित्त मात्र है, तिरने की शक्ति तो उस भव्य प्राणी में है। समकित-सामायिक के भेदों में 'दीपक-समकित' जो भव्यों में होती है, इससे भी यह स्पष्ट होता है कि वह दूसरों पर प्रभाव व प्रकाश डाल सकता है। जो अभव्य नव-ग्रैवेयक में जाते हैं, वे चारित्र-क्रिया के अविराधक होते हैं। चारित्र-क्रिया के विराधक वहाँ नहीं जा सकते हैं। इसी तरह उनकी प्ररूपणा भी विशुद्ध और परतारक होती है। अभ्यास में भी

वह नौवें पूर्व तक पहुँच सकता है।

१५१७ प्र.—क्या हरी का स्कंध उठाने वाला केरी, नींबू मिरची आदि का आचार खा सकता है, क्योंकि उसमें अचित्त होते हुए भी हरापन कायम रहता है। मुरब्बे का भी यही समझें ?

उत्तर—केरी, नींबू, मिरची आदि का आचार तथा मुरब्बा जो अनेक दिनों का हो गया तथा नीलण-फूलण की शंका न हो तो उसको हरी-लिलोती के खंद वाला ग्रहण करे, तो उसके खंद में वट्टा (भांगा) जाना नहीं। नहीं खाना तो श्रेष्ठ है ही एक बात ध्यान रखने की है कि छमका हुआ हरी सब्जी का शाक, केरी की लोंजी, छमकी हुई मिरचें, रस आदि अचित्त तो हो जाती है, किन्तु खंद वाला उसे ग्रहण नहीं कर सकता

१५१८ प्र.—दो दिशाओ अभिगिज्झकप्पइ...... उवट्ठा वित्तए संभुंजित्तए........ सज्झायं उद्दिसित्तए ..... पडिक्कमित्तए..... तं जहा— पाइणं चेव उदीणं चेव। स्थानांग के इस सूत्रानुसार यदि बड़ी-दीक्षा के बाद ही नव-दीक्षित को एक मांडले पर बिठाया जा सकता है, तो क्या यह सिद्ध नहीं होता कि गृहस्थ सूत्र प्राप्ति का अधिकारी नहीं होता। एक प्रश्न यह भी है कि नव-दीक्षित मुनि इस सूत्रानुसार बड़ी-दीक्षा के पूर्व प्रतिक्रमण कर सकता है या नहीं ?

उत्तर—आपने कहा है कि—"स्थानांग के सूत्रानुसार यदि बड़ी-दीक्षा के बाद नव-दीक्षित को एक मांडले पर बिठाया जा सकता है, तो क्या यह भी सिद्ध नहीं होता कि गृहस्थ सूत्र

प्राप्ति का अधिकारी नहीं है ?" इस पाठ से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि गृहस्थ सूत्र प्राप्ति का अधिकारी नहीं है। क्योंकि यहाँ तो १८ बोल साधु-साध्वी को दो दिशाओं की तरफ मुंह करके करने का कथन किया है। लेकिन यहाँ सभी बोलों का पूर्वापर क्रम नहीं समझना। हाँ कितनेक बोलों का क्रम तो है जो स्थानांग ३-४ के सू. २०२ में इन्हीं में के ६ बोलों का क्रम बताया है। इन्हीं बोलों का क्रम बृहत्कल्प के चौथे उद्देशे में सूत्र ४ से ले कर बताया है।

यदि १८ ही बोलों का क्रम लेंगे, तो क्या गृहस्थ आलोचना-प्रतिक्रमण से ले कर संथारा तक के बोल कर ही नही सकता? अर्थात् आलोचना से संथारा तक के बोल तो अनेक गृहस्थ करते हैं, अतः सभी बोलों का क्रम नहीं समझना। (श्रावकों के सूत्र पढ़ने सम्बन्धी प्रमाण प्र. १४६३ के उत्तर में है) आगे आपने कहा कि नव-दीक्षित मुनि बड़ी-दीक्षा के पूर्व प्रतिक्रमण कर सकता है या नहीं? सो १८ बोलों का पूर्वापर क्रम नहीं समझना। सामायिक-चारित्र वाले प्रतिक्रमण कर भी लेते हैं और नहीं भी। उनके लिए अनिवार्य नहीं है। छेदोपस्थापनीय चारित्र वालों के लिए अनिवार्य। अतः प्रतिक्रमण समाप्ति के बाद ही बड़ी-दीक्षा दी जाती है।

१५१९ प्र.-मिथ्यात्वी समकित प्राप्ति के अन्तर्मुहूर्त पूर्व जो यथाप्रवृत्तिकरण करता है, वह निरर्थक है या सार्थक? यदि निरर्थक है, तो वह समकित कैसे प्राप्त करेगा? यदि सार्थक है, तो मिथ्यात्वी को इस अपेक्षा से आराधक क्यों नहीं मान लिया

जाता ? अथवा क्या उसकी सार्थकता वास्तविक होते हुए भी व्यवहार नय से नहीं मानी जाती है ?

उत्तर—अनादि काल से कर्म-क्षय करने वाले परिणाम विशेष को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यह करण तो भव्य और अभव्य दोनों में अनन्त वार होता है। इस करण की कोई खास महत्ता नहीं है। इस करण से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। यदि इस करण से ही समकित की प्राप्ति होती, तो अभव्य को भी हो जाती। अतः मिथ्यात्वी को आराधक कैसे माना जाय? सम्यक्त्व प्राप्ति का खास कारण तो दर्शन-सप्तक का क्षय, क्षयोपशम व उपशम ही है, यथाप्रवृत्तिकरण नहीं।

१५२० प्र.—एक अनादि मिथ्यात्वी जो इस भव में सम्यक्त्व पा कर मुक्ति जाएगा तथा एक पूर्व-लब्ध समकिती जो वर्तमान मिथ्यात्वी है, दोनों के कर्म यथाक्रम एक क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम से अधिक न्यून ही होंगे अथवा दोनों के न्यूनाधिक हो सकते हैं ? यदि कदाचित् अधिक संभव है, तो सम्यक्त्वी मिथ्यात्व दशा में एक क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम से कितने अधिक कर्म संचय कर सकता है ? यदि कदाचित् कम संभव है, तो अनादि मिथ्यात्वी मिथ्यात्व दशा में कम से कम कितना कर्म-सहित रह सकता है ?

उत्तर—समकित प्राप्ति के बाद जीव यदि मिथ्यात्व दशा में भी चला जाय तो भी उसके एक क्रोड़ाक्रोड़ी सागर से कम स्थिति वाले कर्मों का ही बन्ध होता है, अधिक नहीं। एकेन्द्रिय में रहे अनादि मिथ्यात्वी के इससे कम कर्म भी मिल

सकते हैं। अनादि मिथ्यात्वी चरमशरीरी के इससे अधिक भी मिल सकते हैं। समकित-सहित जो प्रशस्त निर्जरा हो, वही उत्तम है, शेष नहीं।

१५२१ प्र.—कोई सामान्य गृहस्थ यदि आपके पास यह पच्चखाण माँगे कि मैं अनुकम्पा योग्य प्राणियों को अचित्त पदार्थों के सिवा सचित्त पदार्थों से सहायता नही पहुँचाऊँगा, तो क्या आप उसे पच्चक्खाण करायेंगे। यदि कराते है, तो क्या यह आगामी अन्तराय नहीं होगी ? यदि नहीं कराते हैं, तो क्या आप सचित्त पदार्थों के जीवन से असहमत नहीं रहते हैं ?

उत्तर—जो सचित्त पदार्थों का समुच्चय त्याग करता हो, तो करवा सकते हैं, अन्यथा वैसे त्याग तो उसको कैसे कराए जा सकते हैं ? जैसे कोई कहे कि गमनागमन में हिंसा होती है, अतः साधु उतरे हों वहाँ गमन करने का मुझे त्याग करा दीजिए, तो मुनि उसे इस प्रकार के त्याग नही करा कर कह सकते है कि तुम कहीं भी मकान के बाहर जाने रूप दिशी-व्रत करो, तो हम करा सकते हैं। किन्तु ऐसे त्याग तो कैसे करावें। इसी प्रकार उठने-बैठने से हिंसा होती है, अतः कोई उठ-बैठ कर मुनिवन्दन के त्याग मांगे तो ये त्याग भी नहीं करा सकते। परन्तु सम्पूर्ण हलन-चलन का मर्यादित त्याग मांगे तो करा सकते हैं। इत्यादि उदाहरणों से ऐसी अनुकम्पा के त्याग कैसे करवा सकते हैं ?

१५२२ प्र.—किसी प्रतिमाप्रतिपन्न अकेले मुनिराज को

प्राणान्त कष्ट में देख कर कोई स्त्री अचित्त औषध आ
से एवं स्वयं की परिचर्या से उन्हें कष्टमुक्त करती है, तो व
जिन-विहित कार्य करती है, या निषिद्ध ?

उत्तर—किसी प्रतिमाप्रतिपन्न अणगार को प्राणांत कष्ट
देख कर कोई स्त्री अचित्त औषधादि से परिचर्या करे, य
कार्य जिनविहित नहीं है। मुनि उस कार्य की अनुमोद
करे, तो भी उनको प्रायश्चित्त का कारण है। परन्तु कर
वाली को इस कार्य से खास पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है

१५२३ प्र.—जैसे नियत समय पर व्याख्यान चौपाई आ
बांचते हैं, उसी प्रकार आबालवृद्ध व्यक्तियों की कक्षा छो
कर, नियत समय पर शास्त्राभ्यास कराया जाय, तो क्या हा
है ? अपवाद में जैसे व्याख्यान का समय अधिक कम कि
जाता है, वैसा इसमें भी संभव है, तथा स्थल-परिवर्तन
दृष्टि से व्याख्यान आदि भी योग्य स्थान पर जा कर किया
जाता है, फिर इसमें आपत्ति क्यों ?

उत्तर—साधुओं के पास कोई पुरुष तथा साध्वी के पा
कोई बाई धार्मिक ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो वे अपनी मर्याद
नुसार व अवकाशानुसार उन्हें धार्मिक ज्ञान दे सकते
परन्तु कक्षा ले कर साधु नहीं पढ़ा सकते। इस प्रकार पढ़ा
में कई बाधाएँ आती हैं। जैसे—१ नियत समय पर जान
२ गृहस्थों के अधीन रहना ३ मल-मूत्र की आज्ञा मांगने प
देना ४ उन पर अनुशासन रखना ५ अनुशासन भंग का द
देना ६ वर्षा धूंअर आदि में जाने के लिए बाध्य होना तथा

जाने पर विद्यार्थियों की पढ़ाई में हानि होना ७ परिक्षा में अनुतीर्ण होना ८ उनको उत्तीर्ण कराने के लिए अनेक प्रपंच करना ९ पुस्तकें आदि दिलाने व मँगवाने आदि का प्रबन्धन करना १० कल्प उपरान्त रहना ११ अपने स्वाध्याय-ध्यानादि में क्षति पहुँचना आदि आदि संयम-बाधक बातें हैं। अतः साधु कक्षा रूप में पढ़ाए यह अकल्पनीय है।

१५२४ प्र.-क्या उत्तराध्ययन अ० उन्नीस वर्णित मृगापुत्र के पिताजी बलभद्र राजा मांडलिक राजा थे ?

उत्तर-निम्न प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृगापुत्र के पिताजी मांडलिक राजा थे-१ बलभद्र राजा के अनेक रानियाँ थी, उसमें मृगारानी को अग्रमहिषी (पटरानी) बताई है। मांडलिक राजा होने के कारण ही वह पटरानी कही गई है,-ऐसा सम्भवित होता है। २ तथा मृगापुत्रजी युवराज थे। इनके नन्दनवन नामका प्रासाद था। वे दोगुंदक जाति के देवों के समान क्रीड़ा करते थे। मणिरत्नों से जड़ा हुआ जिनके प्रासाद का तला था।"**मिआपुत्ते महिड्डिए**" भी नववीं गाथा में बताया गया है। उपरोक्त बातें व ऐसी सामग्री साधारण राजा के यहाँ कैसे हो सकती है ? अतः मांडलिक राजा होना सम्भव है।

१५२५ प्र.-मृगापुत्र का जन्म कौन-से तीर्थंकर के शासन में हुआ था ?

उत्तर-उत्तरा. अ. उन्नीस की निम्न गाथाओं से मृगापुत्रजी का जन्म प्रथम तीर्थंकर के शासन में हुआ ऐसा प्रतीत होता है-

जो जातिस्मरण कहते हैं, वह बात भी कर्मग्रन्थ की वृत्ति व आचारांग की वृत्ति से सिद्ध होती है। समकिती और मिथ्यात्वी के जातिस्मरण के लिए भवों की संख्या भिन्न-भिन्न देखने में नहीं आई। खास तो जातिस्मरण से अन्तर-रहित सन्नी के भव किए हों, वे ही जान सकते हैं। जहां बीच में असन्नी का भव आ जाए वहीं वह ज्ञान रुक जाता है। और जो पहले के भव में असन्नी हों, उनको तो वह ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए इस ज्ञान को 'संज्ञी-ज्ञान' भी कहते हैं।

१५२९ प्र.—जिस-जिस भव का जातिस्मरण ज्ञान होता है, उस-उस भव की कौन-सी बातें वह आत्मा जानती है ?

उत्तर—जातिस्मरण ज्ञान से वह जिस-जिस भव को देखता है, उस-उस भव की अनेक बातें जानता है। जैसे—" मैं अमुक गति में था। इसी प्रकार अमुक देश, ग्राम, अटवी, नदी, पहाड़ आदि में था। अमुक नाम, ओहदा (दर्जा), अमुक सुखमय-दुःखमय अवस्था। जिन-जिन के सम्पर्क में रहा, जिन-जिन का परिचय हुआ, जिन-जिन वस्तुओं को देखा, अमुक धर्म, आराधक—विराधक, नियाणा-सहित, रहित, सीखा हुआ ज्ञान, पाला हुआ संयम, इत्यादि जो-जो विचारपूर्वक कार्य किए हों, वे कार्य तथा वस्तुएँ याद आ जाती हैं। ऐसा ज्ञातासूत्र के पहले, आठवें, तेरहवें, चौदहवें अध्ययन से तथा उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्ययन आदि से स्पष्ट होता है।

१५३० प्र.—जातिस्मरण ज्ञान वाले को पूर्वभव का पढ़ा ज्ञान उसी रूप से आ सकता है या नहीं ?

उत्तर–जिस भव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ हो, उस भव का सीखा हुआ ज्ञान, उस भव में याद हो जाता है। जैसे ज्ञातासूत्र के चौदहवें अध्ययन में तेतलिपुत्र प्रधान को पिछले भव का सीखा हुआ सामायिक अध्ययन आदि ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान स्मरण हो गया था।

१५३१ प्र.–मृगापुत्रजी ने जो कहा कि मैंने अनन्ती वार नर्क का अनंत दुःख देखा है, सो यह बात ज्ञान से कही या जातिस्मरण से ?

उत्तर–नरक के अनन्त दुःख अनन्ती वार भोगने की बात मृगापुत्रजी ने जो कही, वह पिछले भव के सीखे हुए व सुने हुए व जातिस्मरण ज्ञान से याद आए श्रुतज्ञान के बल से की है। जातिस्मरणज्ञान से अनंत भवों को नहीं जाना जा सकता।

१५३१ प्र.–उत्तराध्ययन के उन्नीसवें अध्ययन की गाथा ४८, ४९ में उष्ण-वेदना और शीत-वेदना बताई, वह समुच्चय नरक की या अलग-अलग ? यदि यह पृथक्-पृथक् बताई है, तो उष्ण-वेदना किसमे व शीतवेदना किसमें ? तथा यह वेदना कृत्रिम है या क्षेत्रकृत। क्षेत्रवेदना, परमाधामी कृतवेदना तथा अन्योन्य कृत वेदना ये तीन वेदनाएँ हैं। इनमें किस नरक में कौन-कौन सी वेदना है ? तथा ये तीनों वेदनाएँ अंतर-रहित है, या निरन्तर। अन्तर-रहित वेदना कौन-सी ?

उत्तर–गाथा ४८, ४९ की शीतोष्ण वेदना का वर्णन क्षेत्र-वेदना की अपेक्षा है, देवकृत वेदना की अपेक्षा नहीं। प्रथम की तीन नरक में उष्ण वेदना है, चौथी व पांचवीं नरक में

की अपेक्षा आगे-आगे दुःख अधिक देते हैं। अतः उनमें क्रूरता भी तीव्रतर होना संभव है। परस्पर दुःख देने वाले नारक में जो मिथ्यादृष्टि होते है, उनमें मुख्य रूप से अनंतानुबंधी और गौण रूप से चारों में से किसी कषाय का उदय हो सकता है। सम्यग्-दृष्टि नारक के मुख्य रूप से अप्रत्याख्यानी का उदय व गौण रूप से अनंतानुबंधी के सिवाय तीनों में से किसी भी कषाय का उदय हो सकता है। उसी प्रकार चार क्रियाएँ भी समझना। मिथ्यादृष्टि के क्रिया व कषाय आगे-आगे तीव्रतर समझना चाहिए ?

१५३४ प्र.—गाथा ४९ में 'कुंदकुंभी' कही है, सो वह आकार में कैसी होती है और वह शाश्वत होती है, या कृत्रिम? तथा यह छः दिशाओं मे कौन-सी दिशा में होती है।

उत्तर—लोहादिमय पचाने के बर्तन विशेष को 'कुंदकुंभी' कहते हैं। कुम्भी का अर्थ कोष में इस प्रकार दिया है—"घड़े के मुखाकार की कोठी, संकडे मुंह की कोठी, घडे, कड़ाई या ऊंट के आकार वाले बर्तन विशेष को 'कुम्भी' कहते हैं। इससे कुम्भी का आकार कड़ाई जैसे बर्तन विशेष जैसा, कुम्भी का संस्थान संभवित होता है। इस कुंदकुम्भी की दिशा नियत नहीं बताई है। कई जगह ऐसी कुंभियां कुंभ जाति के देवों द्वारा बनाई हुई होना संभवित है। उसमें नैरयिकों को डाल कर कुंभ जाति के परमाधामी पकाते हैं। बनाई हुई कुंभियां शाश्वत नहीं होती, वे नष्ट हो जाती हैं। तथा नई-नई बनाते रहते हैं। इस प्रकार प्रायः कुंभियां मिलती ही रहती है।

१५३५ प्र.—'मरवालु' व 'कलंब-वालु' का क्या आशय समझना? यह कृत्रिम होती है या शाश्वत? 'सिंवली' वृक्ष कृत्रिम है शाश्वत? क्या ऐसा वृक्ष मृत्युलोक में होता है? यदि हाँ, तो कहाँ व किस नाम वाला होता है? यह ५० वीं गाथा से सम्बन्धित प्रश्न है?

उत्तर—जहाँ की रेती महा दावानल जैसी गरम और मरुदेश की वालुका के समूह के समान हों, ऐसी 'वज्रवालुका' व 'कलंब-वालुका' नदी के किनारे तथा ऐसे रेतीले नरक-प्रदेश में वालुका जाति के परमाधामी देव दु:ख देते हैं। सिंवल-सामली-शाल्मलि, सेमर नाम वृक्ष-विशेष को कहते हैं। देव-कुरु क्षेत्र में जो बड़ा वृक्ष पृथ्वीकाय का बताया है, उसकी आकृति के समान इसकी आकृति समझना। उसका नाम भी 'शाल्मलि' है। इस गाथा में बताई वज्र-वालुका और कलंब-वालुका एवं दो कृत्रिम नदियाँ समझना। ऐसा रेतीला प्रदेश स्वाभाविक होते हुए भी उसकी कुछ विशेपता बढ़ा कर वालू जाति के परमाधामी देव नेरियों को दु:ख देते हैं। नरक में नदियाँ व वृक्ष स्वाभाविक नहीं होते, वे सब कृत्रिम होते हैं।

१५३६ प्र.—नरक में वैतरणी नदी का कथन आता है। उसमें सूयगडांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाँचवें अध्ययन में 'सदाजला' नदी नाम आता है। उसे परमाधामी बनाते हैं या शाश्वत होती है? परमाधामी जिन-जिन शस्त्रों को काम में लेते हैं, वे कृत्रिम होते हैं या शाश्वत? असिपत्र वन कृत्रिम या शाश्वत? प्रश्नव्याकरण सूत्र वर्णित तलवार की धार जैसे

पत्तों का वन, दर्भवन, अणीदार पत्थर के वन, उकलता हुआ कथीर, ये सब कृत्रिम होते हैं या शाश्वत, और ये पानी, अग्नि वृक्ष आदि छहकाय में से किस काय के होते हैं ?

उत्तर–वैतरणी, सदाजलादि नदियाँ, असिपत्र, दर्भ आदि के वन, खारे पनी की बावड़ियाँ, शूलों के स्थान, सब कृत्रिम परमाधामियों की बनाई हुई होती है। क्योंकि नरक में वप नहीं होती है। अतः नरक में नदियाँ व वन होना कृत्रिम हो संभव है। शस्त्र भी प्राय. वैक्रिय के ही काम में लेते हैं प्रश्नव्यारण के प्रथम अध्यन में इस प्रकार का पाठ आया है- **"एवमाइएहिं असुरेहिं वेउव्विएहिं पहरणसएहिं अणुवद्ध तिव्व वेरापरोप्पर वेयणं उदीरेंति अभिहणंता"** इत्यादि प्रकार के वैक्रिय शस्त्रों से तीसरी नरक तक तो परमाधामी तथा सातों ही नरकों में नारक परस्पर दुःख देते हैं। तथा तीसरी से आगे किसी का शत्रु वैमानिक देव भी दुःख दे सकता है।

सभी नरकों की नीचे की भूमि तो तीक्ष्ण है ही, जैसे पन्नवणा आदि में कहा है कि–**"अहे खुरप्पसंठाण संठिया"** तथा कहीं-कहीं स्वाभाविक कंकर भी होते हैं। नदियाँ व वन यद्यपि वैक्रियकृत होते हैं, तथापि प्रायः निरन्तर मिलते रहते हैं। उकलते हुए कथीर भी वैक्रिय के ही समझना। वहाँ का पानी, वृक्ष तथा वैक्रिय के शस्त्र और वैक्रिय के पत्थरों को तो त्रसकाय के वैक्रियकृत समझना तथा स्वाभाविक शस्त्र व पत्थरों को पृथ्वीकाय रूप सचित्त समझना। देव बारम्बार वैक्रिय बनाते रहते हैं, अतः निरन्तर वनादि मिल जाते हैं।

१५३७ प्र.–७५ वीं गाथा मे मृगापुत्रजी कहते हैं कि सभी भवों की असाता मैंने भोगी, सो यह भव सिर्फ नरक के समझना या चारों गतियों के ? स्पष्टीकरण करावें ।

उत्तर–४८ व ४९ ये दो गाथा तो क्षेत्र-वेदना की है। ५० से ७१ तक परमाधामियों की है । अन्योन्यकृत वेदना की यहाँ कोई खास गाथा नही है। ७२, ७३, ७४, ये तीन गाथाएँ नरक के समुच्चय दु.ख बताने वाली है । ७५ वीं गाथा में चारों गति के सभी भव लिए गए है । अन्य गति में वैषयिक सुखों की प्राप्ति होने पर भी ईर्ष्यादि दुःखों से व्याप्त होने से तथा उनका परिणाम दुःख रूप होने से वे वास्तव में दुःख रूप ही बताए हैं।

१५३८ प्र.–तीर्थंकर के जन्म के समय एक अन्तर्मुहूर्त के लिए जो वेदना उपशान्त रहती है,सो वह तीन वेदनाओं में से कौनसी समझना ?

उत्तर–तीर्थंकर के जन्मादि कारणों से देवकृत और अन्योन्यकृत वेदना शान्त (बन्द) रहती है । तथा प्रकाश को देख कर नेरयिक आश्चर्य चकित हो जाते हैं । उससे उनको उस समय क्षेत्र-वेदना का अनुभव भी विशेष नहीं होता है ।

१५३९ प्र.–नीचे की चार नरकों में जो नारक एक-दूसरे को दुःख देते है, सो पशु, पक्षी, शस्त्र, कीड़े वगैरह की विकुर्वणा कर के या किसी दूसरे प्रकार से ? नारकी अपनी वैक्रिय-शक्ति से क्या-क्या रूप बना सकता हैं ? तथा वहाँ समकिती व मिथ्यात्वी में क्या-क्या अन्तर समझना ?

उत्तर–सातों ही नरकों में नेरिये अन्योन्य दुःख देते हैं, किन्तु पाँचवीं नरक तक तो अनेक प्रकार के वैक्रिय शस्त्र बना कर एक-दूसरे पर प्रहार कर के दुःख देते हैं। तथा छठी व सातवीं नरक में वज्र के समान मजबूत मुँह वाले लाल कुंथुए, गोबर के कीड़े के समान बहुत से वैक्रिय रूप बना कर एक-दूसरे के शरीर को छेदन कर के प्रवेश कर के दुःख देते हैं। यह बात जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ती में नरक के दूसरे उद्देशे में बताई है। सम्यग्दृष्टि नेरिये विशेष प्रकार से चला कर किसी को नहीं सताते हैं तथा ऐसे कार्य में उदास भी रहते हैं। परन्तु मिथ्यादृष्टि आगे हो कर छेड़खानी करते हैं, एवं ऐसे कार्य में आनन्द मानते हैं।

१५४० प्र.–मृगापुत्र ने कौन-कौन-से चारित्रों की स्पर्शना की?

उत्तर–मृगापुत्रजी ने दीक्षा लेते समय सामायिक चारित्र ग्रहण किया। बाद में क्षपकश्रेणी में सूक्ष्म-सम्पराय व यथा-ख्यात चारित्र प्राप्त किया। इस प्रकार उनको मृगापुत्र के भव में तीन चारित्र प्राप्त हुए, ऐसा सम्भव है।

१५४१ प्र.–मृगापुत्रजी ने किस के पास दीक्षा ग्रहण की?

उत्तर–किसी के पास दीक्षा ग्रहण न कर के उन्होंने स्वयं दीक्षा ली थी। किसी वस्तु को देख कर प्रतिबोध पाने वाले को *'प्रत्येक-बुद्ध' कहते हैं। इन्होंने मुनि को देख कर प्रतिबोध* पाया। अतः यह प्रत्येक-बुद्ध गिने जाते थे। प्रत्येक-बुद्ध छेदो-पस्थापनीय चारित्र अंगीकार नहीं करते हैं, किन्तु सामायिक में

सीधे सूक्ष्म-सम्पराय में चले जाते है।

१५४२ प्र.– गाथा ९० से लेकर ९४ तक ५ गाथाओं के गुण किस गुणस्थान के समझना योग्य हैं ?

उत्तर– गाथा ९०–९४ में बताए हुए गुण शुभयोगी छठे गुणस्थानवर्ती और सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के हैं। यद्यपि ममत्व, अहंकार, कपाय आदि का सम्पूर्ण क्षय आगे जा कर होता है, तथापि संयम-परायण अप्रमत्त मुनियों का लक्ष्य संयम में ही होता है, ममत्व आदि में कदापि नहीं। अतः शुभ-योगी छठे गुणस्थान वाले व सातवें गुणस्थान वाले के गुण बतलाए हैं, ऐसा समझना।

१५४३ प्र.–गाथा ९५ में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और शुद्ध भावना से आत्मा को सम्यक् प्रकार से भावित करना लिखा है, सो यहाँ भावना चार प्रकारों में समा जाती है, तो पृथक्-पृथक् कहने की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर–यहाँ ९५ वीं गाथा में भावना शब्द का अर्थ पाँच महाव्रत सम्बन्धी पच्चीस भावना अथवा अनित्यादि बारह भावना इसकी टीका में बताई है। अतः यही भावना यहाँ समझना योग्य है। भावना ज्ञानादि चारों में ही होनी चाहिए। बिना भावना के तो ज्ञानादि वास्तव में शून्य है। साधारण भावना के ज्ञानादि साधारण होते हैं और प्रबल भावना से प्रबल। इसलिए आगम में महाव्रतों के साथ-साथ उनकी पाँच-पाँच भावना भी बताई है। अतः ज्ञानादि पुष्ट बनाने की इच्छा वालों को पच्चीस भावना अथवा बारह भावना में निरन्तर

चित्त रखना चाहिए।

१५४४ प्र.– मृगापुत्रजी ने बहुत वर्षों तक संयम का पाल किया, ऐसा ९६ वीं गाथा में लिखा है। यह कौनसा चारि समझना तथा आयुष्य पूर्वों का समझना या दूसरा ?

उत्तर–मृगापुत्रजी ने बहुत वर्ष चारित्र पालन किया, जे बताया है, वह सामायिक और यथाख्यात चारित्र की अपेक्ष बताया सम्भव है। यहाँ वर्षों की संख्या का पूरा प्रमाण खोल तो नहीं, किन्तु उस जमाने की उम्र देखते अनेक पूर्वों तब मुनिपना पालन किया, ऐसा सम्भवित होता है।

१५४५ प्र.–जिनकल्पी, प्रतिमाधारी, एकल-विहारी, स्थ विरकल्पी इनमें क्या-क्या अन्तर होता है सो बतावें ?

उत्तर–स्थानांग सूत्र के आठवें स्थान में बताए आठ गुणं वाला एकल-विहारी हो सकता है। इनको जघन्य रूप से नौवे पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु तक का ज्ञान होना चाहिए। उत्कृष्ट असम्पूर्ण दस पूर्व का। उनकी चारित्र-पर्याय जघन्य वीस वर्ष की व उम्र उनतीस से अधिक होनी चाहिए इत्यादि गुणों वाले आज्ञापूर्वक एकल-विहार पडिमा स्वीकार कर सकते है। जिनकल्पी भी इसी प्रकार, परन्तु शेष काल के ८ महीने तक जिनकल्पी रह कर वापिस स्थविरकल्पी हो जाते हैं। जिनकल्पी तीर्थंकर या सामान्य केवली के समय में ही हो सकते हैं। इनके उपकरणों के आठ विकल्प बताए हैं। जघन्य १ दो रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका। २ दो उपकरण ऊपर लिखे व एक वस्त्र। ३ पूर्वोक्त २ व २ वस्त्र कुल ४। ४ पूर्वोक्त २

व ३ वस्त्र कुल ५ उपकरण। ५ पात्र रखने वाले जिनकल्वी ज. ९ रखते है। २ तो भांगे १ के व पात्र सम्बन्धी ७ कुल ९। ६ पूर्वोक्त ९ व १ वस्त्र ये १०। ७ पूर्वोक्त ९ व दो वस्त्र कुल ११। ८ पूर्वोक्त ९ व तीन वस्त्र कुल १२, इत्यादि प्रकार से जिनकल्पी का विस्तृत वर्णन अभिधान राजेन्द्र कोष में है।

प्रतिमाधारी तो प्रतिमाओं का जितना-जितना समय होता है, उतने-उतने समय तक दशाश्रुतस्कंध कथित प्रतिमाओं के नियमों को पालन करते हैं। इनके भी ज्ञान व चारित्र का नियम तो एकल-विहारी के समान ही समझना। किन्तु आगम-विहारी आज्ञा दें, तो दूसरे भी धारण कर सकते है। स्थविर-कल्पी तो गच्छवासी होते हैं, इनमें नवदीक्षित, अधिक पर्याय वाले, स्वल्पज्ञानी, बहुज्ञानी आदि अनेकों का समावेश हो जाता है।

१५४६ प्र.—अभवी जीव के आठ रूचकप्रदेश कर्मो के आवरण से रहित होते है, या सहित ?

उत्तर—भगवती श. १ उ. ३ कांक्षा-मोहनीय कर्म "**सव्वेणं सव्वे कडे**" कहा है, तथा श. ८ उ. ८ में ऐर्यापथिक और सांपरायिक कर्म का बंध "**सव्वेणं सव्वे बंधइ**" बताया है। इत्यादि आगम-प्रमाणों से स्पष्ट है कि सभी भवी और अभवी जीवों के आठ रूचक-प्रदेशों पर भी आवरण होता है। कई आठ रूचक-प्रदेशों पर आवरण नहीं भी मानते हैं, परन्तु यह बात आगम से मेल नहीं खाती।

१५४७ प्र.—'कालसौकरिक' नामक कसाई, कुएं के अन्दर

उल्टा लटकता हुआ पाँच सौ पाड़ों की हिंसा करता था। वह हिंसा किस प्रकार की समझनी चाहिए ?

उत्तर–कुएँ में लटके हुए कसाई ने जो हिंसा की है, वह हिंसा 'भाव-हिंसा' समझना चाहिए, द्रव्य-हिंसा नहीं।

१५४८ प्र.– अर्जुनमाली के शरीर में छः महीने तक यक्ष का प्रवेश रहा, तथा नित्य ७ आत्माओं का घात किया। इसका पाप यक्ष को लगा, या अर्जुनमाली को ?

उत्तर–अर्जुनमाली के बुलाने पर यक्ष आया था। अतः अर्जुनमाली को पाप लगा। तथा यक्ष ने विचार किया कि यदि मैं न जाऊँगा तो मेरे प्रति लोगों की जो श्रद्धा है, वह उठ जाएगी। इस मान-प्रतिष्ठा से यक्ष को भी पाप लगा। दोनों में से निर्लेप कोई नहीं रहे। दोनों के कर्म-बन्धन हुए।

१५४९ प्र.–देवताओं की भाषा एक अर्द्धमागधी ही है, या दूसरी भी बोलते हैं ?

उत्तर–देव अर्द्धमागधी भाषा बोलते हैं। वे भाषा तो और भी कई प्रकार की बोलते हैं, परन्तु अर्द्धमागधी भाषा मुख्य उनके लिए विशिष्ट होती है। वह अर्द्धमागधी भाषा रूप से ६ प्रकार की कही गई है–१–प्राकृत २–संस्कृत ३–मागधी ४–पैशाची ५–शौरसेनी और ६–अपभ्रंश। इसका खुलासा भगवती श. ५ उ. ४ में है।

१५५० प्र.–कर्म की १४८ प्रकृति है। उनमें बन्ध १२० प्रकृति का होता है। उसमें वर्णादि की १६ प्रकृति टल जाती हैं और ४ प्रकृति रहती हैं। जिसमें वर्ण १, गंध १, रस १,

स्पर्श १ है, सो मेरी समझ में वर्ण, गंध, रस तो आ गए, क्योंकि वहाँ दूसरों का प्रतिपक्ष होता है। लेकिन स्पर्श १ है सो समझ में नहीं आया कि कौनसा है। क्योंकि वहाँ प्रतिपक्ष १ का होता है, वाकी ६ खुले रहते हैं ?

उत्तर–पन्नवणा सूत्र के २३ वें पद के दूसरे उ. में तो १४८ ही प्रकृति का वन्ध बताया है। अतः उन सभी प्रकृतियों का वन्ध होता है। किन्तु कर्मग्रंथ आदि में १२० प्रकृति का वन्ध लिया। उसका कारण ऐसा समझना कि पाँचों वर्णो का वन्ध भिन्नभिन्न न वता कर एक 'वर्ण' शब्द में ही वता दिया है। इसी प्रकार दो गध का 'गंध' शब्द में, ५ रसों का 'रस' शब्द में और आठ स्पर्शो का स्पर्श शब्द में वता दिया है। परन्तु सभी वर्ण, गंध, रस और स्पर्शो का वन्ध होता है। तथा इसी प्रकार पाँच वन्धन पाँच संघातनों को शरीर के साथ गौण कर दिए हैं, परन्तु उनका भी वन्ध होता है, तथा मिश्र-मोहनीय और समकित-मोहनीय को मिथ्यात्व के साथ गिन लिए हैं।

सूत्रकार सभी प्रकृतियों का वन्ध फरमाते हैं और ग्रंथकार मिश्र और समकित-मोहनीय के स्वतंत्र वन्ध का निषेध करते हैं।

१५५१ प्र.– आठ कर्मों से पृथक् होने के वाद सभी जीवों में समानता रहना स्वाभाविक है। तथा सिद्धों में आत्म-प्रदेशों की अवगाहना तीन प्रकार की है। मोक्ष की गति भी पृथक्-पृथक् है, सो समानता में अन्तर क्यों ?

उत्तर– चरम-शरीरी जीवों की जो अवगाहना होती है,

उसमें से तीसरे भाग के जीव-प्रदेशों की अवगाहना काययोग निरोध के समय कम हो जाती है। क्योंकि शरीर में उदर, वदन आदि का जो पोला भाग है, अर्थात् जहाँ जीव-प्रदेशों से शून्य स्थान हो, वह शून्य स्थान न रहने से जीव-प्रदेशों की अवगाहना का तीसरा भाग यहाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्त में ही कम हो जाता है। इसके बाद उन जीवों के प्रदेशों की अवगाहना में कोई नया अन्तर नहीं पड़ता है। जीव-प्रदेशों की अवगाहना में जो अन्तर होता है, वह भवोपग्राही चार कर्मों की मोजूदगी में ही हो जाता है। आठों कर्म क्षय होने के बाद नहीं।

मोक्ष में पहुँचने की गति में भी सभी जीवों को एक समय ही लगता है, अधिक नहीं। अतः इस प्रकार गति में कोई अन्तर नहीं है। स्थानांग सूत्र के १० वें ठाणे में "**सिद्धगई, सिद्धविग्गहगई**" आदि जो बताई है, उसका भाव इस प्रकार समझना कि जो सिद्ध-गति में पहुँचे हुए सिद्ध हैं, उन सिद्धों को सिद्धगति में और जो रास्ते में जा रहे हों, उन सिद्धों को 'सिद्ध-विग्रह गति में समझना। परन्तु उनके गति करने में कोई अन्तर नहीं समझना चाहिए।

१५५२ प्र.— बीस विहरमानों का जन्म एक समय का है या भिन्न समयों का ?

उत्तर— एक समय में चार से ज्यादा तीर्थंकर मोक्ष में नहीं जाते हैं, अतः तीर्थंकरों का जन्म भी एक समय में चार से अधिक नहीं होता। इसलिए बीस विहरमान भगवन्तों का

जन्म एक साथ न समझ कर कुछ समय के अन्तर से समझना। चार का जन्म तो एक साथ हो सकता है।

१५५३ प्र.– बीस विहरमानों का जन्म-महोत्सव जम्बूद्वीप के मेरु पर होवे या पाँचों मेरु पर ?

उत्तर– जम्बूद्वीप के तीर्थंकरों का जन्म-महोत्सव जम्बूद्वीप के मेरु पर ही करते हैं। पूर्वधातकीखण्ड के तीर्थंकरों का जन्म-महोत्सव पूर्वधातकीखण्ड के मेरु पर ही होता है। पश्चिमधातकी खण्ड के तीर्थंकरों का जन्म-महोत्सव पश्चिमधातकीखण्ड के मेरु पर करते हैं। एवं अर्द्धपुष्कर के पूर्व व पश्चिम के तीर्थंकरों का जन्म-महोत्सव अर्द्धपुस्कर के पूर्व व पश्चिम मेरु पर ही क्रमशः होता है। इस प्रकार अपने-अपने क्षेत्र के पांचों ही मेरु पर तीर्थंकरों का जन्म-महोत्सव होता है।

१५५४ प्र.– सूक्ष्म जीवों का आयुष्य सोपक्रमी है या निरूपक्रमी ?

उत्तर– 'पन्नवणा सूत्र' के छठे पद से तथा 'श्रावक धर्म-प्रज्ञप्ति' की गाथा ७४, ७५ से यह स्पष्ट होता है कि सूक्ष्म जीवों में सोपक्रम व निरूपक्रम– इस प्रकार दोनों ही आयुष्य वाले मिलते हैं।

१५५५ प्र.–सातवें, आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान से काल कर के जीव किस-किस देवलोक में जाते हैं ?

उत्तर–दसवें गुणस्थान से काल कर के अनुत्तर-विमान में ही जाते हैं, यह बात तो भगवतीजी के २५ वें शतक के ७ वें उद्देशे से स्पष्ट है। आठवें व नौवें गुणस्थान वाले भी इसी

प्रकार अनुत्तर-विमान में जाने का संभव है। सातवें गुणस्थान वाले काल कर के पहले देवलोक से अनुत्तर-विमान तक के देवों में से किसी भी स्थान पर जा सकते हैं।

१५५६ प्र.—आठ रूचक-प्रदेश कर्म-बंध से रहित किस सूत्र के प्रमाण से कहे गए हैं?

उत्तर—आठ रूचक-प्रदेशों को कर्म-बंध रहित, टीकाकार व ग्रंथकार कहते हैं (सूत्रकारों की मान्यता के लिए प्र. १५४४ का समाधान देखिए)।

१५५७ प्र.—अरूपी के ६१ बोलों में उपयोग के अन्तर्गत होते हुए भी मतिज्ञान के भांगे में चार प्रकार की बुद्धि अलग क्यों बताई?

उत्तर—जिस प्रकार जीव को अरूपी बताने पर भी, साधारण बुद्धि वाले जीवों को स्पष्ट समझ में आने के लिए, उत्थान आदि ५ शक्ति, १२ उपयोग आदि पृथक् अरूपी बताया है। इसी प्रकार अवग्रह आदि मतिज्ञान के भेद और चारों प्रकार की बुद्धि को भी मतिज्ञान में होते हुए भी साधारण बुद्धि वालों को साफ समझ में आने के लिए अलग बता दिए हैं—ऐसा सम्भव होता है।

१५५८ प्र.—चक्रवर्ती से सामान्य मनुष्य का बल कम होता है, तब बाहुबलीजी से भरतजी में बल कम क्यों?

उत्तर—वैसे तो सामान्य मनुष्यों से चक्रवर्ती का बल विशेष होता है, परन्तु कोई-कोई विशेष पुण्यशाली जीव हों, जिन्होंने चक्रवर्ती पद तो उपार्जन नहीं किया, किन्तु तप-संयम, मुनि-

सेवा आदि से चक्रवर्ती से अधिक वल प्राप्त किया हो ! ऐसा कोई-कोई जीव चक्रवर्ती से अधिक वलवान भी मिल सकता है। इसमें वाधा जैसी कोई बात नहीं लगती।

१५५९ प्र.–किसी मनुष्य के जीवन में शुभ कर्मोदय से वर्तमान में आनन्द है, वह सामायिक-पौपधादि व्रत धारण कर अनेक कर्मों की निर्जरा करता है, सो किन कर्मों की निर्जरा करता है ? क्योंकि अशुभ कर्म तो उसके उदय में है ही नही। क्या वह चालू शुभ-कर्मों की निर्जरा करता है ?

उत्तर–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय ये चार कर्म तो एकान्त रूप से अशुभ ही हैं। इनमें से मोहनीय का उदय दसवें गुणस्थान तक, तथा शेप तीन का वारहवें गुणस्थान तक निरन्तर रहता है। अतः सामायिक-पौपधादि करने वाले मनुष्य के शेप अशुभ कर्मों का उदय न भी हो, लेकिन ऊपर लिखे चार कर्मों का तो उदय होता ही है। अतः वह धर्म-करणी से इन अशुभ कर्मों की निर्जरा करता है। धर्मकरणी से पहले अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है, फिर आखिर में शुभाशुभ दोनों कर्मों का नाश करके मोक्ष पाता है। परन्तु पहले शुभ का नाश नहीं होता।

१५६० प्र.– एक गति से दूसरी गति में जाता हुआ जीव आहारक होता है, या अनाहारक ? यदि आहारक होता है, तो कितने समय तक ?

उत्तर– दूसरी गति में जाते हुए कोई जीव आहारक होता है, कोई अनाहारक। रास्ते में तो जीव आहार लेता नहीं,

'लक्ष्मी देवी' कहते हैं।

१५७४ प्र.– श्री हनुमानजी मोक्ष में गए या देवगति में?

उत्तर– श्री हनुमानजी मोक्ष में गए हैं, यह बात रामचरित्र, त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र आदि से प्रमाणित है।

१५७५ प्र.– श्री सीमंधरस्वामीजी, युगमंदिर स्वामीजी आदि जो बीस विहरमान हैं, वे महाविदेह क्षेत्र में विचरते हैं, या मोक्ष पधार गए हैं?

उत्तर– बीसों विहरमानजी महाराज महाविदेह में विचरते है। उनकी उम्र बहुत लम्बी है, सो वे बहुत काल बाद मोक्ष पधारेंगे।

१५७६ प्र.– सिद्ध होने के पंद्रह भेद आए हैं। यहाँ 'निर्ग्रंथलिंग सिद्धा' कोई आया नहीं, तथा दिगम्बर मान्यता वालों का कथन है कि 'मोक्ष एकमात्र निर्ग्रंथलिंग से ही हो सकता है, अन्य किसी अवस्था से मोक्ष प्राप्ति हो ही नहीं सकती,' सो क्या समझना?

उत्तर– १५ भेदों में जो 'स्वलिंग सिद्ध' आया है, उसी को वे 'निर्ग्रंथ-लिंग सिद्ध' कहते हैं। भगवान् ने द्रव्य-लिंग (बाह्य वेष) से तीनों लिंगों में सिद्ध होना बताया है। तथा भावलिंग (सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र) सम्बन्धी विचार से तो 'स्वलिंग सिद्ध' ही होना बताया है। परन्तु द्रव्य और भाव दोनों भेदों का वर्णन करना उचित है।

१५७७ प्र.– "भावसंग्रह" में ऐसा उल्लेख है कि अशुभ भाव से नरक, शुभभाव से देवगति व शुद्ध भाव से मोक्ष प्राप्ति

होती है, सो शुभ व अशुद्ध भाव मे क्या अन्तर समझना ?

उत्तर–शुभ भावों से तो पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है और शुद्ध भावना से मुख्यतः कर्मो की निर्जरा होती है–ऐसा समझना।

१५७८ प्र.–"मन्त्र महामणि विजय भाल के, मेटत कठिन कुअंक काल के।" जीवन के दिन आपको गिन कर नहीं मिले हैं तथा मरने की तिथि-घड़ी भी ललाट पर लिखी नहीं है। जन्मे हुए की मृत्यु यद्यपि अवश्य है, फिर भी मौत टाली जा सकती है, उम्र बढ़ सकती है, सो किस प्रकार समझना ?

उत्तर–नमस्कार मन्त्र के स्मरण से तथा महापुरुषों के गुणानुवाद करने से शुभ विचार उत्पन्न होते हैं, तथा अशुभ कर्म उपद्रव आदि टलते हैं, यह बात तो ठीक है, किन्तु बंधा हुआ आयुकर्म तो टलता ही नहीं, तथा आयुष्य की वृद्धि भी नही होती।

१५७९ प्र.– अठारह पापों की आलोचना में जो 'अर्थ-अनर्थ, धर्म-अर्थ, काम-विषे' आदि कहा जाता है सो धर्मार्थ पाप किस प्रकार होता है ?

उत्तर– धर्म मान कर धूप, दीप, यज्ञ-होमादि करते हैं, मन्दिर, मूर्ति आदि बनाते है, फल-फूल-जलादि चढ़ाते हैं, पशुओं की बलि देते हैं, इत्यादि हिंसा धर्म के लिए करते है, ऐसा समझना।

१५८० प्र.– वर्तमान में जो श्री सीमंधरस्वामी आदि के आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वी विचर रहे हैं, वे महाविदेह क्षेत्र वाले श्रमण-श्रमणी मुखवस्त्रिका रखते हैं या नहीं ?

उत्तर– श्री सीमंधरस्वामी आदि तीर्थंकरों के साधु-साध्वी मुखवस्त्रिका रखते ही हैं।

१५८१ प्र.–प्रथम देवलोक में तेरह प्रतर व प्रथम नारकी के तेरह पाथड़े हैं, जिनका वर्णन पन्नवणा सूत्र के आयुष्य पद में पृथक्-पृथक् चलता है, इनको ऊपर-नीचे समझना या एक सीध में ?

उत्तर– पहले-दूसरे देवलोक के तेरह प्रतर और पहली नारकी के जो तेरह पाथड़े हैं, उनको ऊपर-नीचे समझना चाहिए, सीध में नहीं। यहाँ से ऊपर या नीचे की ओर जाने वाले को क्रमशः पहला-दूसरा यावत् तेरहवाँ प्रतर या पाथड़ा आता है।

१५८२-प्र.–अढ़ाई द्वीप के बाहर वर्षा नहीं होती, वहाँ वनस्पति किस प्रकार उगती है, व तिर्यञ्च किसका आहार करते हैं?

उत्तर–अढ़ाई द्वीप के बाहर अनेक स्थानों पर पृथ्वी में से पानी निकलता है, तथा कई स्थानों पर भूमि की सरसता से वनस्पति उत्पन्न होती है। अतः तिर्यंचों के आहार में खास बाधा जानी नहीं।

१५८३ प्र.–सात नारकी का एक दंडक क्यों लिया, जब कि दस भवनपति के दस दण्डक लिए? तथा २६ वैमानिक का एक दण्डक ही क्यों बताया?

उत्तर–प्रथम नरक के ऊपर के दो अन्तर छोड़ कर शेष नीचे के दस अंतरों में दस भवनपति रहते हैं। दस भवनपतियों के बीच

के पायड़ों में नारक आए हुए हैं। दसों भवनपतियों के बीच में नैरयों का व्यवधान होने से भवनपतियों के दण्डक भिन्न-भिन्न बताए हैं। सातों नरकों में से एक दूसरी नरक में बीच कोई व्यवधान न होने से सातों नरकों का एक दण्डक बताया है। इसी प्रकार छब्बीस प्रकार के वैमानिकों के बीच भी व्यवधान न होने से एक ही दण्डक बताया है।

१५८४ प्र.—लोक में चार दिशा व चार विदिशा बताई गई, किन्तु अलोक में आठ विदिशा किस प्रकार बतलाई गई है? यह प्रश्न पन्नवणा पृ. ६०४ से संबंधित है।

उत्तर—लोक व अलोक में विदिशा चार-चार ही हैं। उनका विस्तृत वर्णन भगवती श. १३ उ. ४ में है। अलोक में आठ विदिशा नहीं हैं। पन्नवणा सूत्र के पृ. ६०४ में भी चार विदिशा बताई हैं। किन्तु ४ विदिशा के खण्ड ८ बताए हैं। जैसे "अलोक में चार दिशा के तथा चार विदिशा के खण्ड ८ कुल १२ खण्ड होते हैं।" ऐसा वहाँ समझना कि लोक व अलोक का चरम बिल्कुल पास ही है। लोक के बाद अलोक का चरम आया हुआ है। अतः अलोक का चरम कुछ निकट विशेष है। अतः चरम द्रव्य (खण्ड) विशेष बताए हैं। जो आठ व बारह खण्ड बताए हैं, वे कल्पना कर के समझाने के लिए हैं। तत्त्व से तो खण्ड असंख्याते हैं। ऐसा समझना।

१५८५ प्र.—पन्नवणा सूत्र ६०८, ६२५ में चरिम, अचरिम व अवक्तव्य पद में संख्याता, असंख्याता और अनंता को मिला कर २६ भांगे का विस्तृत वर्णन किया है, सो किस आशय से?

उतर–जो द्रव्य समश्रेणी में आए हों, या भेद (अवयव) विवक्षा कर के एक ही द्रव्य के प्रदेश समश्रेणी में आए हों, उनमें से आगे व पीछे के प्रदेश को 'चरिम' कहते हैं। तथा बीच के द्रव्य या द्रव्य के प्रदेशों को 'अचरिम' कहते हैं। एक ही द्रव्य हो या एक आकाश प्रदेश की ही जिसकी अवगाहना हो अथवा एक ही स्कंध का कोई देश या प्रदेश विश्रेणी में आ गया हो, उसे 'अवक्तव्य' कहते हैं। क्योंकि चरिम व अचरिम दोनों प्रकार से बोलने योग्य नहीं है। जो चरम व अचरम दोनों प्रकार से बोलने योग्य न हो, उसे 'अवक्तव्य' कहते हैं।

छब्बीस भांगों में से पहिला भांगा "चरम एक" है। यह भांगा दो आकाश प्रदेश अवगाहने वाले दो-प्रदेशी स्कंध से ले कर अनन्त प्रदेशी स्कंध में होता है। इसकी स्थापना–०० इधर के अवयव से देखें, तो उधर का अवयव चरम (अन्तिम) तथा उधर के अवयव से देखने पर इधर का चरम है। अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा चरम एक समझना।

दूसरा भांगा "अचरम एक" है। बिना चरम के अचरम (बीच का) हो नहीं सकता। इसलिए यह दूसरा भांगा बोलने मात्र का है, किन्तु ऐसा बनता नहीं है, अतः यह किसी में भी नहीं है।

तीसरा भंग "अवक्तव्य एक" है। इसकी स्थापना–० यह एक होने से इसको चरम या अचरम न कह कर 'अवक्तव्य' कहते हैं। परमाणु में तो केवल यह तीसरा भांगा ही मिलता है। क्योंकि सांश (अंश वाला) नहीं है। दो-प्रदेशी-स्कंध से

ले कर अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक जो स्कंध एक ही आकाश-प्रदेश पर बैठे, तो यह तीसरा भाँगा ही उनमें आता है।

चौथा भंग– "चरम वहुत" है। विना अचरम व अवक्तव्य के वहुत चरम वनते ही नहीं।

पाँचवाँ भाँगा–"अचरम बहुत" है। विना चरम के अचरम वनते ही नहीं।

छठा भाँगा–"अवक्तव्य वहुत" है। बिना चरम के या विना चरम व अचरम के अवक्तव्य वहुत वन नहीं सकते। अतः ४, ५, ६ भाँगा वोलने मात्र ही है। ये किसी में बनते नहीं है।

साँतवाँ भाँगा–"चरम अचरम एक" है। इसकी स्थापना देखें। इसे जिधर से देखें, अन्त में एक चरम है। अतः अन्त के चारों को ही एक वचन में ग्रहण कर लिया है। तथा वीच में तो एक ही है। यह भाँगा ५ प्रदेशी स्कंध से अनन्तप्रदेशी स्कंध तक पाँच आकाश प्रदेश अवगाहन करने वालों में मिलता है।

आंठवाँ भाँगा–"चरम एक अचरम वहुत" है। इसकी स्थापना देखें। इसे जिधर से देखें उधर अंत में एक है। तथा अचरम वहुत (दो) है। यह भाँगा छ-प्रदेशी स्कंध से अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक छः आदि आकाश अवगाहन करने वालों में मिलता है।

नौवाँ भाँगा–"चरम वहुत और अचरम एक" इसकी स्थापना। इसमें अचरम एक तथा चरम

बहुत (दो) है। यह भाँगा तीन प्रदेशी स्कंध से अनन्त प्रदेशी स्कंध तक ३ आकाश प्रदेशों से अवगाहित हो, उनमें मिलता है।

दसवाँ भाँगा-" चरम बहुत व अचरम बहुत " है। इसकी स्थापना-[०,०,०,०] बीच के दो अचरम हैं। उसकी अपेक्षा अन्त के दोनों चरम हैं। यह भाँगा ४ प्रदेशी स्कंध से अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक चार आदि आकाश-प्रदेश की अवगाहना वालों में मिलता है।

ग्यारहवाँ भाँगा-"चरम एक अवक्तव्य एक" है। इसकी स्थापना-[०] इसमें दो तो एक दूसरे की अपेक्षा चरम है। [०।०] एक टेढ़ा आया है। अवक्तव्य है। यह भाँगा ३ प्रदेशी स्कंध अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक ३ आकाश प्रदेश की अवगाहना वालों में मिलता है।

बारहवाँ भाँगा-"चरम एक, अवक्तव्य बहुत" है। इसकी स्थापना-यह चार-प्रदेशी से अनंत-प्रदेशी स्कंध तक चार आकाश प्रदेशों की अवगाहना वालों में मिलता है।

तेरहवाँ भाँगा- चरम बहुत अवक्तव्य एक है। इसकी स्थापना-ये पाँच-प्रदेशी स्कंध से अनन्त प्रदेशी स्कंध तक पाँच आकाश प्रदेश की अवगाहना वालों में मिलता है।

चौदहवाँ भाँगा-चरम बहुत अवक्तव्य बहुत है। इसकी स्थापना- ये छःप्रदेशी से अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक ६ आकाश प्रदेशों की अवगाहना में मिलते हैं।

पंद्रहवाँ भाँगा–"अचरम एक और अवक्तव्य एक है।

सोलहवाँ भंग–"अचरम एक और अवक्तव्य वहुत" है।

सतरहवाँ भंग–"अचरम वहुत और अवक्तव्य एक" है।

अठारहवाँ भंग–"अचरम वहुत और अवक्तव्य वहुत" है। ये चार भाँगे वोलने मात्र के हैं। किसी में भी वनते नहीं हैं। क्योंकि विना अचरम के चरम नहीं हो सकते।

उन्नीसवाँ भंग–"चरम एक अचरम एक और अवक्तव्य एक" है। इसकी स्थापना देखो। यह भंग ६ प्रदेशी स्कंध से अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक ६ आकाश-प्रदेश अवगाहन करने वालों में मिलता है।
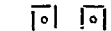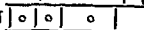
वीसवाँ भंग–"चरम एक अचरम एक और अवक्तव्य वहुत" है। स्थापना के अनुसार। यह भंग सात-प्रदेशी स्कंध से अनंत प्रदेशी स्कंध तक सातादि आकाश-प्रदेश अवगाहन में मिलता है।

इक्कीसवाँ भंग–"चरम एक अचरम वहुत और अवक्तव्य एक" है। यह सात-प्रदेशी स्कंध से अनंत प्रदेशी स्कंध तक तथा सात आदि आकाश-प्रदेशों को अवगाहने वालों में मिलता है। इसकी स्थापना देखो।

वावीसवाँ भंग–चरम एक अचरम वहुत और अवक्तव्य वहुत है। यह भंग आठ-प्रदेशी स्कंध से अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक

आठ आकाश प्रदेशों में अवगाहने वालों में मिलता है। इसकी स्थापना देखो।

तेवीसवाँ भंग—चरम बहुत अचरम एक और अवक्तव्य एक है। यह भंग ४ प्रदेशी स्कंध से अनन्त प्रदेशी स्कंध तक चार आकाश-प्रदेश अवगाहन करने वालों में मिलता है। इसकी स्थापना देखो।

चौवीसवाँ भंग—चरम बहुत अचरम एक और अवक्तव्य बहुत है। यह भंग ५ प्रदेशी स्कंध से अनंत प्रदेशी स्कंध तक तथा ५ आकाश प्रदेशों को अवगाहने वाले में मिलता है। इसकी स्थापना देखो।

पच्चीसवाँ भंग—चरम बहुत अचरम बहुत और अवक्तव्य एक है। ये भंग पाँच-प्रदेशी स्कंध से अनंत प्रदेशी स्कंध तक पांच आदि आकाश प्रदेशों को अवगाहन करने वालों में मिलता है। इसकी स्थापना देखो।

छव्वीसवाँ भंग—चरम बहुत अचरम बहुत और अवक्तव्य बहुत है। यह भंग छ-प्रदेशी स्कंध से अनन्त-प्रदेशी स्कंध तक छःआदि आकाश-प्रदेशों को अवगाहने वालों में मिलता है। इसकी स्थापना देखो।

यह २६ भंगों का संक्षेप मे विवेचन, पुद्‌गलों के अवयवों की अपेक्षा आदि से बताया है *।

---

* इन भंगों का खुलासा प्रज्ञापना मलयगिरि टीका के अनुसार है, जो पं. भगवानदास हर्षचन्द द्वारा अनुवादित हो कर प्रकाशित है।

१५८६ प्र.— साधु को कुत्ती, बिल्ली, नागिन आदि का तथा साध्वी को कुत्ता, बिलाव, साँप आदि विरुद्ध लिंगी का संघटा लगता है, या नहीं।

उत्तर-श्री उत्तराध्ययन सूत्र के १६ अध्ययन आदि में पशु युक्त मकान ब्रह्मचारी को सेवन करना निषिद्ध बताया है। उससे स्पष्ट होता है कि साधु को कुत्ती, बिल्ली, गाय, भैंस आदि का तथा साध्वी को कुत्ते, बिलाव, बैल, भैंस आदि का संघटा लगता हैं। रही बात सर्प-सर्पिणी की, सो प्रथम तो यह स्त्री वेद का है, या पुरुषवेद का, इस बात का पता ही लगना कठिन है तथा इनके गुप्तांग अत्यन्त गुप्त होने व इनसे डरने से इन पर विकार पैदा होने की सम्भावना कम रहती है। अतः इनका संघटा लगने का खास कारण तो है नहीं। व्यवहार से मानें तो बात निराली।

१५८७ प्रश्न—वक्ता की तथा वृद्ध की भाषा को अभिन्न किस प्रकार कहना ? यह अभिन्न भाषा असंख्याता अवगाहना वर्गणा में जाकर भेद को प्राप्त होती है और संख्याता योजन जाकर नाश को प्राप्त होती है। यह किस प्रकार समझना ? (पन्नवणा पृ. ६७५)

उत्तर—वक्ता दो प्रकार के होते हैं—१ मंद प्रयत्न वाला २ तीव्र प्रयत्न वाला। इनमें से जो मंद प्रयत्न वाला वक्ता—व्याधि, बुढ़ापा, अनादर अनुत्साह आदि के कारण मंद प्रयत्न से—जिस भाषा के द्रव्य जैसे होते हैं, वैसे ही बिना खण्ड किए भाषापणे परिणमन करके छोड़ता है, वे द्रव्य असंख्याता भाषा-

वर्गणा को उल्लंघन कर के भाषा द्रव्य रूप से भेद को प्राप्त होते हैं। फिर संख्यात योजन जाकर नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

तीव्र प्रयत्न वाला वक्ता, भाषा-द्रव्यों को भेद (खण्ड) कर के छोड़ता है। वे भेदे हुए भाषा द्रव्य सूक्ष्म और अधिक होने से बहुत द्रव्यों को वासित करते हैं (अपने जैसा बनाते हैं) और वे अनंत गुणी वृद्धि प्राप्त करते हुए छहों दिशा में फैल कर लोकान्त का स्पर्श करते हैं।

१५८८ प्रश्न–'औदारिक बंधेलक शरीर के क्षेत्र से असंख्याता लोक में भर जावें'–यह किस प्रकार कहा, जब कि तमाम जीवों के औदारिक शरीर बंधे हुए इसी लोक में हैं? (पन्नवणा सूत्र पृ. ६८८)

उत्तर–जैसे एक मकान में दीपमाला आदि के प्रसंग पर बिजली के अनेक दीपक-माला रूप से होते हैं। यदि उन सब का प्रकाश व्यवधान रहित संलग्न रूप से भिन्न-भिन्न कर दिया जाय, तो उस प्रकाश की सीमा कई गुणी हो जायगी, वैसे ही लोक के अंदर सूक्ष्म एकेंद्रियादि अनेक जीवों की अवगाहना परस्पर सम्मिलित रूप से आई हुई है, उनको यदि पृथक् करें, तो असंख्यात लोक भर जावें। ऐसा केवलज्ञान से ज्ञात होता है।

१५८९ प्रश्न–नारकी में केवल ३ अशुभ लेश्याएँ पाई जाती है, तो उनके मन के परिणाम सदैव खराब रहते हैं और उनके कर्म बंधते ही रहते हैं। उनके पुण्य व निर्जरा होती है, या नहीं? (पन्नवणा सूत्र पृ. ७१२, ७१३)

उत्तर–नारक जीवों में द्रव्य-लेश्या तो तीन अशुभ ही होती है, परन्तु भाव-लेश्या छहों ही प्राप्त होती है। उन जीवों में अध्यवसाय शुभाशुभ दोनों ही मिलते हैं। उनके पुण्य का वन्ध व निर्जरा (मिथ्यात्व के पुद्गलों की निर्जरा) होती है।

१५९० प्र.–आकाश क्या है? उसका रंग नीला क्यों है?

उत्तर–आकाश अरूपी है, उसमें वर्णादि नहीं है। जो नीली झाँई दिखती है, वह पुद्गलों की है। ऐसे छोटे पुद्गल लोक में सर्वत्र हैं। वे धूंअर बादल आदि की तरह निकट से दिखाई नहीं देते हैं, किन्तु दूर से उनकी नीली झाँई दिखाई देती है।

१५९१ प्र.–घ्राणेंद्रिय, जिव्हेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय की अवगाहना उत्कृष्ट रूप से ९ योजन किस प्रकार समझना? (पन्नवणा पृ. ७४४)

उत्तर–घ्राण, जिव्हा व स्पर्शनेन्द्रिय की अवगाहना नौ योजन की नहीं कही है, किन्तु इनका विषय उत्कृष्ट नव-नव योजन वतलाया है। किसी की घ्राणेंद्रिय तेज हो तो नव योजन तक से अछिन्न (छेद नहीं पाए) पुद्गलों की गंध आ सकती है। इसी प्रकार हुक्के की नली आदि से आए हुए रस का अनुभव भी नव योजन तक के आए पुद्गलों का हो सकता है एवं स्पर्श भी समझ लेना।

१५९२ प्रश्न–'इन्द्रिय-उपचय और निर्वर्तना' किसे कहते हैं? श्रोतेन्द्रिय निर्वर्तना असंख्यात समय की किस प्रकार समझना? (पन्नवणा पृ. ७४४)

उत्तर–जिसके द्वारा इन्द्रिय-उपचय (इंद्रिय योग्य पुद्गलों को संग्रह करने की शक्ति) प्राप्त होती है, उसे 'इन्द्रिय-उपचय' कहते है। यानि इंद्रिय पर्याप्ति को इंद्रिय उपचय कहते हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रियों के आकार की उत्पत्ति को 'निर्वर्तना' कहते हैं। इंद्रियों की निर्वर्तना (आकार) उत्पन्न करने में असंख्य समय लगते हैं।

१५९३ प्रश्न–तिर्यंच पंचेन्द्रिय के वैक्रिय-लब्धि कैसे कही गई है? कौनसे तिर्यंच वैक्रिय करते हैं? तथा इसका वर्णन किस शास्त्र में चलता है? (पन्नवणा सूत्र पृ. ७९०)

उत्तर–पाँचों ही सन्नी-पंचेंद्रियों के वैक्रिय-लब्धि हो सकती है। इन पाँचों के पर्याप्त में वैक्रिय शरीर पन्नवणा पद १२, २१ आदि में तथा जीवाभिगम, भगवती आदि में अनेक स्थानों पर बताया है। तथा इनमें वैक्रिय योग भी पन्नवणा के १६ वें पद से स्पष्ट है।

१५९४ प्र.– आहारक-लब्धि वाले में से पुतला निकलता है, तथा फिर उसमें से मुण्ड हाथ का पुतला निकलता है, वह क्यों निकलता है। तथा उसमें योग कौन-से समझना?

उत्तर–जिस चौदह पूर्वधर के पास आहारक-लब्धि हो, वे संशयादि उत्पन्न होने के कारण अपने शरीर में से एक हाथ का पुतला निकाल करके तीर्थंकरादि के पास भेजते हैं। यदि वे वहाँ न मिले, तो उसमें से मुण्ड हाथ का पुतला निकाल के आगे जहाँ वे हों वहाँ जाता है। उन दोनों पुद्गलों को आहारक योग में ही समझना।

१५९५ प्र.–एकेंद्रिय से ले कर असन्नी पंचेन्द्रिय तक मन नहीं है, फिर लेश्या का सद्भाव उनमें कैसे हो सकता है ? यह प्रश्न पन्नवणा सूत्र पृ. ८५४ से सम्बन्धित है ।

उत्तर–एकेंद्रिय से लेकर असन्नी पंचेन्द्रिय तक जीवों के मन तो नहीं होता, परन्तु अध्यवसाय होते हैं, ऐसा भगवती सूत्र के २४ वें शतक से स्पष्ट है । इसी प्रकार उनमें लेश्या भी होती है । एक प्रकार के आत्म-परिणाम को 'लेश्या' कहते हैं । अतः इनके होने में कोई बाधा नहीं है ।

१५८६ प्र.–युगलिकों की अवगाहना देवकुरु में ३ गाउ (कोस) उत्तरकुरु में २ गाउ, हरिवास, हेमवय, अन्तरद्वीप व महाविदेह में क्रमशः १ गाउ, ८०० व ५०० धनुष की होती है, या इससे कम-ज्यादा ? (पन्नवणा सूत्र पृ. ९३२)

उत्तर–यह तीन गाउ आदि की अवगाहना तो उत्कृष्ट है, इससे अधिक नहीं हो सकती, परन्तु कम हो सकती है ।

१५९७ प्र.–देव नैरयिकों के पच्चक्खाण क्यों नहीं आते, जबकि वे भव्य, आराधक एवं सम्यग्दृष्टि भी होते हैं ?

उत्तर– देव-नैरियों के दूसरे अप्रत्याख्यानी कषाय का क्षयोपशम नहीं होता । इसलिए उनको प्रत्याख्यान नहीं आ सकते ।

१५९८ प्र.–"अंतोक्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम" का क्या आशय है ?

उत्तर–एक क्रोड़ सागरोपम को एक क्रोड़ से गुणा करने पर क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम होते हैं । जो बन्ध इससे भी कम

हो, उसे 'अन्तः क्रोड़ाक्रोड़ी' सागरोपम कहते हैं।

१५९९ प्र— एकेन्द्रिय व बेइन्द्रिय के घ्राणेंद्रिय नहीं होती, तो वे श्वास कैसे लेते हैं, तथा एकेंद्रिय के मुँह नहीं होता, तो वे आहार किससे करते हैं ?

उत्तर— जिस प्रकार हाथ वाले जीव, हाथ से आहारादि लेकर मुँह में रखते हैं, परन्तु बिना हाथ वाले मुँह से ले लेते हैं। पैर वाले, पैरों से चलते हैं, परन्तु बिना पैर वाले पेट से चलते हैं। आंखों वाले आंख से देख कर, किसी चीज के पास जाते हैं, परन्तु बिना नेत्र वाली कीड़ियाँ आदि गन्ध से ही उस चीज का अनुभव कर के पास जाती है। उसी प्रकार एकेंद्रिय तो शरीर द्वारा ही आहार ग्रहण करते हैं, कवल आहार नहीं।

१६०० प्र— नैरयिकों को जन्म से ३ ज्ञान होते हैं, किन्तु मनुष्य को दो ही, इससे क्या नैरिये की पुण्यवानी ज्यादा समझना ?

उत्तर— जिस प्रकार चीड़ियाँ, कौआ, कबूतर आदि बिना किसी की सहायता से आकाश में उड़ सकते हैं, लेकिन मनुष्य नहीं उड़ सकता, तो क्या इससे चीड़ी आदि को मनुष्य से बढ़ कर कहा जा सकता है ? इसी प्रकार नैरयिक को भव-प्रत्ययिक अवधिज्ञान होता है, किन्तु मात्र भवप्रत्ययिक अवधि से उसे मनुष्य से अधिक नहीं कहा जा सकता।

१६०१ प्र.—असंख्याता द्वीप-समुद्र देखे—ऐसा अवधिज्ञान किस तिर्यंच पचेंद्रिय को हुआ ?

उत्तर—असंख्य द्वीप-समुद्र देखे, जितना अवधिज्ञान तिर्यंच

को होना पन्नवणा आदि सूत्रों में बताया है, किन्तु ऐसा अवधि-ज्ञान किसको हुआ, ऐसा नाम निर्देश रूप में देखने में नहीं आया। ऐसा ज्ञान अनेक तिर्यंचों में होता है।

१६०२ प्र.—आभ्यन्तर व बाह्य अवधि किसे कहते हैं?

उत्तर—अवधि वाला जो जीव चारों ओर से संलग्नता रूप से अवधि से देखता हो, बीच में त्रुटक (अन्तर) न हो उसे 'आभ्यन्तर अवधि' कहते हैं। जो चारों ओर से न देखता हो, या झरोखे की जाली में से निकले हुए दीपक के प्रकाश की भाँति त्रुटक अवधि हो, उसे 'बाह्य अवधि' कहते हैं।

१६०३ प्र.—नैरयिक, ज्योतिषी, नव ग्रैवेयक आदि का अवधिज्ञान किस प्रकार का है?

उत्तर—नारक अवधिज्ञान से जो क्षेत्र देखते हैं, वह तिपाई जैसा होता है। ऊपर संकड़ा और नीचे चौड़ा, इस आकार से उनका अवधि होता है, (वे नारक ऊपर विशेष अवलोकन नहीं कर सकते हैं) ज्योतिषी देव जो क्षेत्र अवधिज्ञान से देखते हैं, वह झालर जैसा होता है। लम्बाई-चौड़ाई अधिक और ऊँचाई (जाड़ाई) कम होती है।

नवग्रैवेयक वासी देवों का अवधि पुष्प के चंगेरी के समान होता है। नीचे बहुत चौड़ा फिर क्रमशः संकड़ा, फिर चौड़ा, फिर संकड़ा।

१६०४ प्र.— नव ग्रैवेयक देवता जब नीचे की ओर सातवीं नरक तक देखते हैं, तो इतना ही ऊपर क्यों नहीं देखते हैं? (पन्नवणा पृ. १२६६)

उत्तर– वैमानिक देवों की अवधि का स्वभाव ही ऐसा है कि अपने विमानों की ध्वजा तक ही देखते हैं। यदि अवधि ऊपर अधिक देखे, तो उनको खेदित होना पड़े, क्योंकि ऊपर उनसे अधिक ऋद्धि वाले देव होते हैं। अतः उनके अवधिज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि देवलोक की सीमा तक ही देख सकते हैं।

१६०५ प्र.–'तेजस्-समुद्घात' किसे कहते हैं व यह नरक या देवलोक में क्यों नहीं पाई जाती ?

उत्तर– अत्यधिक रोष व तेजस् नाम-कर्म की उदीरणा कर के नेत्रादि के द्वारा अत्यन्त उष्ण पुद्गलों को किसी पर प्रक्षिप्त करने को 'तेजस्-समुद्घात' कहते हैं। यह समुद्घात नरक के सिवाय शेष तीनों गतियों में मिल सकती है।

१६०६ प्र.–यदि कोई साधु किसी श्रावक-श्राविका को व्रत के उपलक्ष में वस्त्रादि दिरावे तो साधुजी को पुण्योपार्जन होता है या नहीं ?

उत्तर– श्रावक-श्राविकाओं को वस्त्र या अन्य कोई वस्तु व्रत के उपलक्ष में दिलाना निशीथ सूत्र के अनुसार मुनियों का कल्प नहीं है। कल्प (मर्यादा) विरुद्ध कार्य कदापि नहीं करना चाहिए। अब रही बात पुण्य-बंध की। सो पुण्य-बंध तो हो सकता है। तथा पुण्य-बन्ध होना बड़ी बात नहीं है। क्योंकि पुण्य तो एकेंद्रिय जीवों के भी बन्धता है। पुण्य के लिए प्रभु आज्ञा का उल्लंघन कर सूत्र-विरुद्ध प्रथा को अपनाना सर्वथा अनुचित है।

१६०७ प्र.– गौशाला, स्कूल, स्थानक आदि बनवाने का साधु उपदेश-आदेश करे, तो उचित या अनुचित ? तथा पुण्य है क्या ?

उत्तर– गौशाला, स्कूल, स्थानक आदि बनवाने का उपदेश साधुओं को नहीं देना चाहिए। ऐसे उपदेश देने का निषेध उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में किया है। ऐसे उपदेश देना साधु-मर्यादा के विरुद्ध है। पुण्य का खुलासा ऊपर आ चुका है।

१६०८ प्र.–साधु किताबें, शास्त्र आदि धार्मिक उपकरण दान देने का कह सकता है या नहीं। अन्य दान के विषय में भी यही प्रश्न है।

उत्तर–उपरोक्त कार्यों में दान देने का उपदेश देना, शास्त्र, किताबें आदि देने का कहना इत्यादि कार्य पुण्य-पाप के बन्धक हैं तथा साथ ही समय-समय पर साधु-मर्यादा का उल्लंघन भी होता है। अतः यह कार्य साधुओं को करने योग्य नहीं है।

१६०९ प्र.–हम द्रव्य-कर्म एवं भाव-कर्म को कैसे जान सकते हैं ? आत्मा को द्रव्य-कर्म का अनुभव उदयानुसार होता है। लेकिन भाव-कर्म का अनुभव आत्मा को कैसे होता है ? फिर भी भावकर्म का उदय आत्मा को करना पड़ता है या नहीं। (किसी-किसी मान्यता के संत ऐसा कहते हैं कि आत्मा में जब कर्म का बंध होता है, उसी वक्त ही भावकर्म का अनुभव हो जाता है। तथा कर्म का जो अबाधाकाल होता है, वह ही 'द्रव्य-कर्म' कहलाता है। क्या उपर्युक्त कथन माननीय है ?)

उत्तर–कर्मों के पुद्‌गलों को 'द्रव्य-कर्म' कहते हैं और उदय-प्राप्त कर्मों को 'भाव-कर्म' कहते हैं। अर्थात् बंध के बाद जबतक जिस कर्म का उदय न हो, तबतक वे 'द्रव्य-कर्म' रहते हैं। उदय में आए हुए को (फल देना जिसका चालू हो, उसे) भाव-कर्म कहते हैं। भाव-कर्म के बिना द्रव्य-कर्म का आत्मा के साथ संबंध हो ही नहीं सकता। अबाधाकाल के बाद द्रव्य-कर्मों का उदय होने से आत्मा के कषाय व योग रूप भावों को ही 'भाव-कर्म' कहते हैं। अनुभव तो खास भाव-कर्मों का ही होता है, द्रव्य-कर्मों का नहीं।

१६१०–प्र.–यदि चक्रवर्ती के पुण्य से देवताओं के पुण्य अधिक हों, तो फिर वे उसकी सेवा में क्यों रहते हैं? तथा सेवा में किस प्रकार के देव रहते हैं?

उत्तर–जिस प्रकार तिर्यंच गति की अपेक्षा मनुष्य गति को बड़ी मानी है, तथापि कई घोड़े हाथी आदि की सेवा करने वाले मनुष्य होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक बलादि की अपेक्षा देवताओं के पुण्य विशेष होते हुए भी ऐश्वर्यता की अपेक्षा चक्रवर्ती के पुण्य ज्यादा होने से देव उनकी सेवा करते हैं।

चार जाति के देवों में से चक्रवर्ती की सेवा करने वाले 'व्यन्तर' देव होते हैं। यह बात श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र के मूल एवं टीका से सुस्पष्ट है।

१६११ प्र.–भवनपति में उत्तरदिशा के असुरकुमार व दक्षिणदिशा के असुरकुमार इस प्रकार दिखलाए गए हैं, तो उधर वह दिशा हम किस प्रकार समझ सकें? तथा दिशाओं

का नाप किस स्थल से लिया गया है ?

उत्तर–जम्बूद्वीप संबंधी मेरु-पर्वत के रूचक-प्रदेशों से दक्षिण-उत्तर आदि दिशाओं का माप (भवनपति आदि देवों के) समझ लेना । अर्थात् जीवों के लिए दक्षिण, उत्तर, पूर्व आदि का माप जम्बूद्वीप के मेरु-पर्वत से है ।

१६१२ प्र.–तिर्यंच सम्मूर्छिम पंचेंद्रिय के जलचरादि पाँचों भेद ढ़ाई द्वीप के भीतर पाए जाते हैं या बाहर ?

उत्तर–समुच्चय रूप से तो संमूर्छिम तिर्यच पंचेंद्रिय के पाँचों भेद मनुष्य-क्षेत्र के अन्दर व बाहर दोनों ही जगह मिलते हैं । किन्तु अवान्तर किसी भेद वाले अन्दर नही मिलते, तथा कोई बाहर नहीं मिलते, जिसका खुलासा श्री पन्नवणा के प्रथम पद में दिया है । जैसे आशालिका मनुष्य-क्षेत्र के कभी १५ कर्मभूमियों में और कभी ५ महाविदेह मे होते हैं, अन्यत्र नहीं । इसी प्रकार समुद्गक पक्षी व विततपक्षी भी मनुष्य-क्षेत्र से बाहर ही होते हैं। जिस प्रकार इनका निषेध बताया, वैसे ही यदि साधारण पाँचों में से किसी एक सन्नी तिर्यच पंचेन्द्रिय का निषेध होता तो बता देते । अत: समुच्चय तो पाँचों ही मनुष्य-क्षेत्र के बाहर व भीतर दोनों ही जगह मिलने का सम्भव है ।

१६१३ प्र.–मद व अभिमान इन दोनों में विशेष क्या अन्तर है ? क्योंकि अभिमान तो मोहनीय कर्म की प्रकृति है तथा मद गोत्र कर्म की ?

उत्तर–मद को गोत्रकर्म की प्रकृति नहीं समझना । क्योंकि जाति, कुल, बल आदि ८ भेद गोत्रकर्म के हैं, लेकिन इनका

मद करना गोत्रकर्म नहीं है। मद व अभिमान दोनों ही मोह नीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। भगवती श. १२ उ. ५ में मान, मद, दर्प, स्तंभ आदि मान के १२ नाम बताए हैं। उन सब नामों की टीका में विशेषता बताई है। मान यह सामान्य नाम है, तथा मद, दर्प आदि उसके विशेष नाम हैं। थम्भादि भेद मान के कार्य हैं, ऐसा भी समझ सकते हैं।

१६१४ प्र.-संवत्सरी के दिन उपवास व इसके पूर्व लोच क्या ये दोनों क्रियाएँ आवश्यक हैं? यदि शारीरिक विवशता के कारण कोई यह दोनों क्रियाएँ नहीं कर सके, तो क्या उसे अनशन कर लेना चाहिए? किसी एक क्रिया का विकल्प होना संभवित है?

उत्तर-संवत्सरी के दिन उपवास व संवत्सरी के प्रसंग पर लोच नहीं होने की स्थिति में साधु को 'गुरु-चौमासी' प्रायश्चित्त श्रीनिशीथ सूत्र के १० वें उद्देशे में है। किसी खास शारीरिक कारण के प्रसंगवश साधु से उपवास-लोचादि नहीं हुए हों, तो उसे सहर्ष गुरुचौमासी प्रायश्चित्त स्वीकार करना चाहिए, ताकि समाज में शास्त्रीय नियम भंग का कोई दुःसाहस न कर सके।

१६१५ प्र.-भगवान् ने पृथ्वीकाय का वर्ण पीला, अप्काय का सफेद, तेउकाय का लाल, वायुकाय का हरा, वनस्पति तथा त्रस का विविध वर्ण बताया है, सो किस प्रकार समझें?

उत्तर-सामान्य रूप से सभी काया के शरीर में पाँचों रंग होते हैं। किन्तु मुख्य रूप से पृथ्व्यादि के रंग जुदे-जुदे

बतलाए हैं। उन अलग-अलग रंगों को इस प्रकार ध्यान में लिया जाता है

(१) निकलता अंकुर पीला होने से पृथ्वी का रंग पीला गिना जाता है।

(२) वस्त्र बहुत दिनों तक पानी में रखने से लाल हो जाता है, अतः अप्काय का का रंग लाल।

(३) राख का रंग श्वेत हो जाता है, अतः तेजस्काय का श्वेत रंग।

(४) पृथ्वी से निकला पीला अंकुर हवा लगने से हरा हो जाता है, अतः हवा का वर्ण हरा कहा है।

(५) वनस्पति के जरिए दूर के पहाड़ काले नजर आते हैं। अतः वनस्पति का वर्ण श्याम।

(६) त्रसकाया के वर्ण तो विभिन्न हैं ही।

१६१६ प्र.—आत्म-रक्षक देव इंद्र के ही होते हैं, या अन्य देवों के भी ? क्या देवियों के भी आत्मरक्षक देव होते हैं ?

उत्तर— इंद्र के अतिरिक्त सामानिक, त्रायत्रिंशक, लोकपाल, विमान के स्वामी देव, दिशाकुमारियाँ आदि अन्य बड़े-बड़े देव-देवियों के भी आत्म-रक्षक देव होते हैं।

१६१७ प्र.— विनिता नगरी १२ योजन की लम्बी व ९ योजन की चौड़ी दिखलाई है। वह योजन शाश्वत समझना कि अशाश्वत ?

उत्तर— श्री जम्बूदीवपन्नति में विनिता नगरी की लम्बाई, चौड़ाई शाश्वत योजन की बताई है।

१६१८ प्र.— पन्नवणा में सातावेदनीय की ज. स्थिति १२ मुहूर्त की व श्री उत्तराध्ययन में अन्तर्मुहूर्त की दिखलाई है, सो यह अन्तर किस प्रकार समझना ?

उत्तर— जहाँ अन्तर्मुहूर्त (२ समय) का बताया हो, वहाँ ईर्यापथिक (कषाय-रहित जीवों के) बंध की अपेक्षा समझना तथा जहाँ १२ मुहूर्त बताई हो, वहाँ साम्परायिक सातावेदनीय की अपेक्षा से ।

१६१९ प्र.— कोई विद्वान ऐसा कहते हैं कि 'दर्शनावरणीय से आत्मा को दर्शन-मोहनीय कर्म का बंध होता है,'' सो क्या यह ठीक है ?

उत्तर— पन्नवणा पद २३ में बताया है कि—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शनावरणीय का उदय, दर्शनावरणीय के उदय से दर्शनमोहनीय का उदय और दर्शनमोहनीय से मिथ्यात्व का उदय और मिथ्यात्व के उदय से आठ कर्मों की प्रकृति को बाँधता है। जीवों के बंध प्रायः इस प्रकार होते हैं ।

१६२० प्र.— कार्मण-शरीर व कार्मण-काययोग, इन दोनों में अन्तर क्या है ?

उत्तर— कर्म का विकार-कार्मण, आठ प्रकार के विचित्र कर्मों से बना हुआ तथा सब शरीरों के कारणभूत शरीर को 'कार्मण-शरीर' कहते हैं । यह सभी संसारी जीवों के साथ रहता है तथा कार्मण-योग अनाहारक अवस्था में ही वाटेवहते जीवों के तथा केवली-समुद्घात के तीसरे, चौथे व पाँचवें समय में होता है, अन्यत्र नहीं । यही दोनों में अन्तर है ।

१६२१ प्रश्न–जीव जब पहली बार समकित फरसता है, तो पहले ज्ञान फरसता है या दर्शन ?

उत्तर–जीव को जब समकित आती है, तब दर्शन व ज्ञान साथ ही होते हैं, तथापि दीपक व प्रकाश की भाँति दर्शन पहले व ज्ञान बाद में गिना जाता है।

१६२२ प्रश्न–क्या मिथ्यादृष्टि की आगत में ५ अनुत्तर विमान भी लिए हैं ? यदि हाँ तो क्यों ?

उत्तर–अनुत्तर विमान से आए हुए जीव यहाँ उत्पन्न होते हुए सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। किन्तु बाद में कोई जीव थोड़ी देर के लिए बीच में मिथ्यादृष्टि हो कर फिर सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। यह बात श्री प्रज्ञापना के प्रन्दरहवें पद से स्पष्ट होती है।

१६२३ प्रश्न–हमारे सामने दो विकल्प हैं–१ गृहस्थ विवेकपूर्वक आहार बनाए वह आहार करना कम पाप का कारण है, या २ हलवाई के यहाँ से सीधा ही खरीद लाना कम पाप का कारण है।

उत्तर–नवीन बनाने व बनवाने की अपेक्षा उसे घर से तथा हलवाई आदि के यहाँ से पहले का बना सीधा मिल जाय, तो कम पाप का कारण है, क्योंकि सीधा लाने में तो खास 'अनुमोदना' लगती है, तथा नवीन बनाने व बनवाने में आरंभ भी उसे करना-कराना पड़ेगा। भावों की समानता में करने व कराने से अनुमोदना का पाप कम लगता है। यह बात उत्तरा. अ० ८ गाथा ८ व स्थानांग के नवकोटि पच्चक्खाण की टीका

से स्पष्ट है। मकान आदि के उदाहरण से भी यही स्पष्ट होता है। जैसे मकान की जरूरत होने पर बनाने व दूसरे से बनवाने की अपेक्षा सीधा मकान लेने वाले को कम पाप का कारण बनता है। इसी प्रकार आहार के विषय में भी समझना चाहिए।

१६२४ प्र.—श्री ब्राह्मीजी व सुन्दरीजी ने भगवान् ऋषभदेवजी के पास दीक्षा कब ली, तथा वे बाहुबली को समझाने कब गई थी? इनकी दीक्षा व बाहुबली की दीक्षा में कितना अन्तर है?

उत्तर—"बंभी-सुंदरी पामोक्खाओ"—इस जंबूद्वीपपन्नति के पाठ से तो यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मी-सुन्दरीजी की दीक्षा, भगवान् ऋषभदेवजी को केवलज्ञान होते ही हो गई थी। तभी ये सतियों में मुखिया हुई, भगवान् को केवलज्ञान होने के बाद भरतेश्वर, खंड साधने गए थे। खण्ड साध कर ६०,००० वर्ष से वापिस आए। बाद में बाहुबलीजी की दीक्षा हुई। कथाकारों का यह कहना आगम के मूल पाठ से मेल नहीं खाता कि सुन्दरीजी की दीक्षा भरतजी के खण्ड साध कर आने के बाद हुई।

१६२५ प्र.—प्रथम नरक के जो आंतरे (पाथड़े) हैं, उनके विषय में किसी की मान्यता ऐसी है कि एक ऊपर का व एक नीचे का खाली है। स्वर्गीय मुनिश्री इंद्रमलजी म. सा. ने फरमाया था कि दोनों आंतरे ऊपर के खाली हैं। इस विषय में मुनिश्रीजी ने एक प्रमाण भी शास्त्र का बताया था; पर

स्मृति-दोष से विस्मृत हो गए। इस विषय में आपश्री की क्या धारणा है ?

उत्तर– ऊपर के दोनों आंतरे खाली है। इस विषय में श्री इन्द्रमलजी म. सा. का फरमाना ठीक है। इस विषय में प्रमाण भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ८ तथा शतक १६ उ. ९ में चमरेंद्र व बलेंद्र की सुधर्मासभा समभूमि से चालीस हजार योजन नीचे बताई है। ४०००० का हिसाब पाथडे के योजन में मिलता है। अतः तीसरे आतरे में असुरकुमार है। आगे के नव आंतरों में नागकुमारादि अवशेष निकाय समझ लेना।

१६२६ प्र.– जीव को एक स्थान से चव कर दूसरे स्थान पर जाने में उत्कृष्ट ४ समय जो लगते हैं, सो किस प्रकार ?

उत्तर– त्रस जीव मर कर त्रस या स्थावर में जन्म लेवे या स्थावर जीव त्रस में जन्म लेवे, तो उत्कृष्ट ३ समय लगते हैं। स्थावर मर कर स्थावर में जाय तो उ. ४ समय लगते हैं। यह इस प्रकार समझना–

प्रथम समय में तो नीचे लोक की त्रसनाली के बिना सीध वाले स्थावरनाली के जीव मर कर नीचे लोक की त्रसनाली की सीध वाली स्थावरनाली में आते हैं। दूसरे समय में नीचे लोक की त्रसनाली में आते हैं। तीसरे समय में ऊँचे लोक की त्रसनाली में जाते हैं, तथा चौथे समय में स्थावरनाली में (ऊँचे लोक की) उत्पत्ति क्षेत्र में जा कर उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार चार समय लगते हैं। इसी प्रकार ऊँचे लोक की स्थावरनाली के जीव नीचे लोक की स्थावरनाली में भी उत्पन्न

होते हैं। यह बात भगवती शतक ३४ आदि से सिद्ध है। सू
के मूलपाठ से तो ४ समय से अधिक किसी भी जीव को नह
लगते है।

१६२७ प्र.–किसी भाई ने हरी-लिलोती का त्याग किया
तो उसके भविष्य में जो अव्रत की क्रिया लगती थी, तथा उसरे
लिलोती संबंधी जो कर्म-बंध होते थे, वे ही भविष्यत्काली
कर्म रुके, या पूर्व-कर्मों की भी निर्जरा हुई? यही प्रश्न
सामायिक-पौषध, कुशीलत्याग आदि के विषय में भी समझे
कि इससे पूर्व-कर्मों की निर्जरा भी होती है या नहीं, तथा नए
कर्मों का बंधन रुक जाता है?

उत्तर–लिलोती, कुशील, रात्रि-भोजन आदि के त्याग
करने में तथा सामायिक-पौषधादि से नए कर्म आते हुए भी
रुकते हैं, तथा पहले के कर्मों की निर्जरा भी होती है।

१६२८ प्र.–यदि कोई भी त्याग करने से पहले के कर्मों
की निर्जरा होती है, तो त्याग करते समय ही हो जाती है,
या जितने समय तक वह त्याग पाले तब तक हर समय होती
रहती है?

उत्तर– त्याग के समय से लेकर उसके विचार (भाव)
त्याग में कायम रहे, तब तक उसके निर्जरा होती रहती है।

१६२९ प्र.–अठारह पापों में जो परिग्रह व राग को पृथक्
गिना हैं, सो दोनों में खास अन्तर क्या हैं? ऊपरी व्याख्या
तो दोनों की एक सरीखी ही दिखती है।

उत्तर– मूर्च्छा पूर्वक वस्तु के ग्रहण को परिग्रह कहते हैं।

वस्तु हाथ लगे, या न लगे। ग्रहण करने में आवे या न आवे, तथापि उस वस्तु पर अनुराग हो उसे 'राग' कहते हैं। स्थूल-दृष्टि से एक दिखते हुए भी इसमें सूक्ष्म-भेद इस प्रकार समझना चाहिए।

१६३० प्र.– एक व्यक्ति ने २० वर्ष की अवस्था में शील-व्रत ग्रहण किया, तथा दूसरे ने ६० वर्ष की अवस्था में, सो दोनों के त्याग का फल एक सरीखा है या कम-ज्यादा?

उत्तर– व्यवहार-दृष्टि से तो २० वर्ष की उम्र (भर जवानी) में त्याग करने वाले ने विकारों पर जोरदार अधिकार जमाया–ऐसा मालुम होता है। अतः अत्याधिक विशुद्ध विचारों के कारण उसे लाभ भी अधिक होना सम्भवित होता है। अंत-रंग भावों के लाभ के स्वरूप को तो ज्ञानी ही जान सकते हैं।

१६३१ प्र.– मनुष्य के सारे शरीर में आत्मा के प्रदेश पसरे (फैले) हुए है, सो वे प्रदेश जहाँ जिस प्रकार हैं, वहीं उसी प्रकार ही रहते है, या पैरों के आत्म-प्रदेश माथे में तथा माथे के आत्म-प्रदेश हाथों में आ-जा सकते हैं? वे आत्म-प्रदेश चलनशील हैं या स्थिर हैं?

उत्तर– जीव के आठ मध्य-प्रदेशों के सिवाय अन्य प्रदेश ऊँचे-नीचे होते रहते हैं। उन प्रदेशों का चलित होना योगरुंधन के पश्चात् रुकता है। योगनिरुंधन के बाद कोई प्रदेश इधर-उधर नहीं होते।

१६३२ प्र.–१८००० शीलांग-रथ की गाथाएँ हैं, इसमें मुख्य गाथा का अर्थ संधि-सहित स्पष्ट लिखावें। एक गाथा

से दूसरी गाथा का सम्बन्ध किस प्रकार बैठ सकता है ?

उत्तर–मुख्य गाथा व अर्थ इस प्रकार है–

"जे णो करेंति मणसा, णिज्जियाहारसण्णा सोइंदिए।
पुढविकायारंभं, खंतिजुआ ते मुणि वंदे ॥ १ ॥

अर्थ–खंति (क्षमा) गुण से युक्त, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में आसक्त न होने वाले, आहार-संज्ञा का त्याग करने वाले जो मुनि, मन से भी पृथ्वीकाय का आरम्भ नहीं करते, उन मुनियों को मैं वन्दना करता हूँ। यह गाथा का अर्थ है। अब आगे का विवेचन इस प्रकार समझना योग्य है। दस प्रकार श्रमण-धर्म कहा गया है–१ खंती, २ मुत्ती, ३ अज्जव, ४ मद्दव ५ लाघव, ६ सच्च, ७ संजम, ८ तव, ९ चियाय (त्याग) १० बंभचेर।

इन दस में से पहले 'खंति' को लेकर उपर्युक्त एक गाथा कही गई है। इसी प्रकार खंति के स्थान पर 'मुत्ती' आदि रखते जाने से १० गाथाएँ बन जाएगी। उस समय खंति-जुआ के स्थान पर 'मुत्ति–जुआ,' 'अज्जवजुआ' आदि पद बनते जाएँगे। पृथ्वीकाय के आरम्भ के त्याग की ये दस गाथाएं हुई। फिर इनके स्थान 'आउकायारंभं,' तेउकाय, वनस्पतिकाय, वेइंद्रिय, तेइन्द्रिय चउरिंद्रिय, पंचेंद्रिय, अजीवकायारंभं इन १० को रखने से प्रत्येक पद की अपेक्षा १०-१० गाथाएँ बन जाएगी। इस प्रकार ये १०० गाथाएँ हुई। ये १०० गाथाएँ श्रोतेंद्रिय की अपेक्षा हुई। इनको चक्खिंदिय, घाणिंदिय, रसिंदिय आदि ५ इंद्रियों से गुणा करने पर ५०० गाथाएँ बन जाती है। इन

सव के साथ आहारसण्णा (आहार-संज्ञा) का कथन है। अतः पाँचसौ गाथाओं की आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा इन ४ संज्ञाओं से गुणा करने पर २ हजार गाथाएँ वन जाएगी। इन सब गाथाओं के साथ 'मणसा' शब्द लगा हुआ है। मणसा, वयसा, कायसा इन तीनों की अपेक्षा ६ हजार गाथाएँ वन जाती है। इन सब के साथ "णो करंति" शब्द लगा हुआ है। इस तरह 'णो करंति' के स्थान पर 'णो कारवेंति' और 'णो अणुजाणंति' इन पदों से गुणा करने पर १८००० गाथाएँ वन जाती है। अन्तिम गाथा इस प्रकार होगी–

"जे णाणुजाणंति कायसा, णिज्जियपरिग्गहसण्णा फासिंदिए।
अजीवकायारंभं, वंभजुया ते मुणी वंदे॥ १८०००॥

१६३३ प्र.– 'चरिम' किसे कहते हैं?

उत्तर–भव्य जीवों को 'चरम' कहते हैं। ये अनादि से भव्य ही होते हैं। जव वे मोक्ष में जाएँगे तव भव्यपणे का त्याग कर 'नो भव्य नो अभव्य' (सिद्ध) वन जाएँगे।

१६३४ प्र.– क्या कारण है कि रोम-सहित चर्म, साध्वी को नहीं कल्पता है? तथा साधु को एक रात्रि के लिए कल्पनीय है, सो भी भोगा हुआ या........?

उत्तर– रोमसहित चर्म साध्वी को नहीं कल्पता, क्योंकि उसमें कुंथुए पनक (फूलण) वरसात से उत्पन्न हो जाते हैं। अतः उस पर बैठने से जीव-विराधना होती है। उसकी प्रतिलेखना भी वरावर नहीं हो सकती। उसमें भार भी ज्यादा

होता है और चोरादि का भी भय बना रहता है। चर्म स्पर्श से विकारोत्पत्ति की संभावना व स्मृति होती है, इत्यादि कारणों से साध्वी के लिए चर्म वापरने की मनाई की है, तथा साधु के लिए भी निषेधाज्ञा है, लेकिन कुम्हार-लुहारादि द्वारा भोगा हुआ चर्म, किसी खास कारण विशेष से साधु एक रात्रि के लिए प्रयोग में ले सकता है। वह लुहारादि से वापरना चालू होने के कारण उसमें जीव भी नहीं मिलते।

१६३५ प्र.–साधु-साध्वी को कच्चा फल भेदा हुआ कैसे कल्पता है?

उत्तर–ताल-प्रलम्ब से निःकेवल फल का ही ग्रहण नहीं है, मूल से फल पर्यन्त वृक्ष-लतादि के दस ही प्रकार के अंग हैं। अतः मूल से लेकर फलपर्यंत दस ही प्रकार की कच्ची हरी, ठीक भेदी हुई (प्रासुक बनी) ही कल्पती है, जैसे–धनिए के पत्ते, कबीट, मिरची, नारियल, तिल, मूंगफली, तिजारे आदि अनेक प्रकार की वनस्पति की चटनी आदि होती है। अर्थात् किसी वनस्पति के मूल की, कंद की यावत् किसी के फल की चटनी, चाटा, सिरका, अचार या नमक आदि द्वारा बने अचित अन्यान्य पदार्थ निर्जीव व निश्शंक हो, तो साधु-साध्वी को कल्पते हैं, अन्यथा नहीं।

१६३६ प्र.–साधु के उपवासादि प्रत्याख्यानों में जो "परिठावणिया" आगार है, सो वह किस समय व कितनी बार उठाने का कल्प है?

उत्तर–'परिठावणिया' आगार वाला ऐसे तो साधारणतया

सब का भोजन निपटने के बाद कभी-कभी किसी के भी कोई वस्तु न खपती हो, तभी उसको वापर सकता है। इसमें कितने टाइम व कितनी वार आदि प्रश्न कई कारणों से एकांत लागू नहीं होते। जैसे–पहले प्रहर की कोई वस्तु हो, वह तीन प्रहर तक किसी के न उठी हो, तो उसको तीसरे प्रहर के अन्दर-अन्दर वापरना पडेगा। दूसरे प्रहर की वस्तु चौथे प्रहर तक न उठी हो या ज्वर आदि कारण से नही उठी हो, तो दूसरी वार भी वापरनी पड़ती है। इसी प्रकार दो कोस तक कोई वस्तु काम में न आई हो, तो उसको वापरने के बाद आगे के ग्रामादि में फिर से कोई वस्तु बढ़ने पर दूसरी वार भी वापरनी पड़ती है। कोई वस्तु सुवह की ज्यादा हो, तथा शाम को खप सकती हो, तथा उसे रखने से खराब होने की सम्भावना हो, तो उसे पहले ही वापरनी पड़ती है। वाद में काम पड़ने पर फिर से वापरनी पड़ती है, आदि।

१६३७ प्र–.साधु-साध्वी को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा किस के पास से लेना योग्य है ?

उत्तर–वड़े साधु-साध्वी शासनपति की, तथा पास के साधु-साध्वी को अपने पास के वड़े साधु-साध्वी की आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए। यदि कोई सीमंधर स्वामीजी की आज्ञा लेवें, तो भी कोई बाधा नहीं। क्योंकि तीर्थकरों में कोई मत-भेद नहीं है।

१६३८ प्र.–सुखविपाक, छज्जीवणिया, व वृहत्कल्प की भिन्न-भिन्न कितनी गायाएँ हैं ?

उत्तर–सुखविपाक की १५० जाजेरी, छजीवणी की लग-भग १७५, बृहत्कल्प की ४७३ गाथाएँ गिनी जाती हैं।

१६३९ प्र.– जन्म एवं मरण के दुःख भगवान् ने बड़े दिखलाएँ हैं। मृत्यु का दुःख सामान्य ढंग से देखा जाता है, लेकिन गर्भ में जन्म का दुःख स्पष्टतया नहीं देखा जाता। क्योंकि गर्भस्थ जीव की काया सुख में रहती है, तथा वृद्धि भी होती है। यदि गर्भ में दुःख हो तो काया दुःख से पीड़ित हो कर वृद्धि नहीं पा सकती। इस प्रकार गर्भ में व जन्म में सुखाभास होता है, फिर दुःख कैसे माने ?

उत्तर– विशेष पुण्यशाली जीव को गर्भ व जन्म में विशेष पीड़ा नहीं होती, लेकिन उन-उन प्रसंगों पर अन्य जीवों को तो कई प्रकार की पीड़ाएँ होती ही है। जैसे– कई जीव गर्भ में ही गल कर नष्ट हो जाते हैं। कई गर्भस्थ जीव माता के प्रतिकूल खान-पान आच्छादन गंध माला आदि से तथा कालातिक्रांत (वेटाइम) खान-पान, प्रतिकूल शयन, आसन, चंक्रमण, रोग, शोक, भय, मोह, परिश्रमादि कई कारणों से तीव्र दुःख का अनुभव करते हैं, तथा मर भी जाते हैं। माता की मृत्यु हो जाने पर गर्भस्थ शिशु भी मर जाता है। इत्यादि अनेक प्रकार के कष्ट गर्भ के बताए हैं। अत्यन्त अशुचि एवं संकीर्ण स्थान में निवास करना पड़ता है। काया बढ़ने का जो प्रश्न है, यह एकान्त सुख का कारण नहीं है, कारण कि दुःखी होते हुए भी नेरियों का और विष्ठा, गोबर, कीचड़ादि के कीड़ों का शरीर वृद्धिगत होता ही है। अतः आयुबल होने पर सुख व दुःख

दोनों अवस्था में शरीर बढ़ता है । यदि आयुष्य बल न हो, तो सुखी अवस्था में भी शरीर का त्याग करना पड़ता ही है। जन्म का दुःख भी महान् है । बडी कठिनाई से जन्म होता है। कई आड़े-टेढ़े आने से मर भी जाते हैं। कइयों को काट कर निकाला जाता है, इत्यादि अनेक दुःखों से उनको पूर्व-भव की स्मृति भी नहीं रहती है । गाथा–

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।
तेण दुक्खेण संमूढो जाइसरइं ण अप्पणो ।।

१६४० प्र.– पृथ्वीकायादि एकेंद्रिय जीव किसका आहार करते हैं ? ओजस व रोम-आहार कैसा होता है ?

उत्तर– लोक में सर्वत्र आहार योग्य पुद्गल है । पृथ्वी आदि के जीव जहाँ कहीं भी उत्पन्न होते हैं, वे वहीं के पुद्गलों का आहार ले लेते हैं । बाद में शरीर निप्पत्ति तक मिश्र मे ओज आहार लेते है । फिर शरीर-पर्याप्ति के बाद त्वचा द्वारा जो आहार ग्रहण करते है, उसे रोम-आहार कहते हैं । सभी प्रकार के आहार में पाँचों रस, दोनों गंध, पाँचों रंग व आठों स्पर्श होते हैं । ऐसे पुद्गलों का सद्भाव लोक में सर्वत्र समझना चाहिए ।

१६४१ प्र.–भगवती सूत्र श. १ उ. २ तथा उववाइ सूत्र में तापसों का उपपात उत्कृष्ट ज्योतिषी तक बताया है, तो तामली तापस काल कर ईशानेन्द्र कैसे बने ?

उत्तर–कंद, मूल, छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज, दूब आदि का आरम्भ करने वाले तथा पत्र, पुष्प, फलादि का भक्षण करने

वाले तापसों का उपपात उत्कृष्ट ज्योतिषी तक बताया गया है। जो तामली की भांति भिक्षोपजीवी होते हैं, वे ज्योतिषी से आगे भी जाते हैं। अतः बाधा जैसी बात नहीं है।

१६४२ प्र.—उत्तराध्ययन सूत्र के नववें अध्ययन की पहली गाथा से यह ध्वनित होता है कि मोहनीय-कर्म की उपशान्ति से जातिस्मरण ज्ञान होता है। जातिस्मरण ज्ञान तो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से होता है, फिर मोहनीय-कर्म का इसके साथ क्या सम्बन्ध है?

उत्तर— मोहनीय कर्म की उपशांति से होने वाला जातिस्मरण ज्ञान, ज्ञान रूप है, अनुपशान्ति से होने वाला जातिस्मरण ज्ञान अज्ञान रूप है। चूंकि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान माना जाता है। अतः यहाँ सम्यक्ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह बताने के लिए मोहनीय की उपशान्ति बताई गई।

१६४३ प्र.—जीवन में जिसने न तो उल्लेखनीय पाप किए न धर्म-करणी की, ऐसे सामान्य व्यक्ति के मरण समय में क्षणिक शुभ अध्यवसाय आए तो क्या वह शुभ गति प्राप्त कर सकता है?

उत्तर— यदि किसी ने परभव का आयुष्य न बाँधा हो, तथा मृत्यु के निकट प्रसंग में शुभ अध्यवसाय आवें, तो उस समय शुभायु का बंध कर वह शुभ गति में जा सकता है।

१६४४ प्र.— देव-नैरयिक का आनुगामिक अवधि मध्यगत है या अन्तःगत?

उत्तर— 'मध्यगत' अवधि में समझना चाहिए।

१६४५ प्र.–आत्मा प्रति-पल कर्म-प्रदेशों का वन्धन करता है, तो वे कर्म-दलिक स्थूल रूप से आठ कर्मों के आठ वड़े विभागों में विभाजित होते होंगे। कृपया फरमावें कि प्रदेशों की अपेक्षा किस कर्म को अल्प-बहुत अश मिलता है।

उत्तर– जब जीव आयुष्य के सिवाय शेष सात कर्मों का बंध करता है, तो सबसे कम व बरावर कर्म-दलिक नामकर्म व गौत्रकर्म को मिलते हैं। इससे विशेषाधिक तथा परस्पर तुल्य तीन भाग– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय-कर्म को मिलते हैं, इससे विशेषाधिक कर्म-दलिक मोहनीय-कर्म को तथा सबसे अधिक कर्म-दलिक वेदनीय को मिलते हैं। तथा जब जीव आठ कर्म बांधता है, तो बंधे हुए कर्म के आठ भाग होते हैं। उसमें से सबसे थोड़ा हिस्सा आयुकर्म को मिलता है। उससे विशेषाधिक तथा बराबर हिस्सा नामकर्म व गौत्रकर्म को मिलता है। इनसे विशेषाधिक तथा परस्पर तुल्य भाग ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय व अन्तराय कर्म को मिलता है। इससे विशेषाधिक कर्म-दल मोहनीय को मिलते हैं। तथा कर्म-दलों का सब से अधिक हिस्सा वेदनीय को मिलता है।

१६४६ प्र.– परीषह व उपसर्ग में क्या अन्तर है?

उत्तर– साधु-साध्वियों पर आपत्ति आने पर भी संयम में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट सहन किए जाते हैं, वह परीषह कहलाता है। उपसर्ग शब्द उप पूर्वक सृज् धातु से बना है, जो प्राणी को धर्म से गिराने का कारण बने उसे उपसर्ग कहते हैं

या जो जीव को बाधा-पीड़ादि से संयुक्त करे उसे उपसर्ग कहते हैं। वह देवादि के भेद से अनेक प्रकार का है।

परीषह मुख्य रूप से स्वाभाविक तथा उपसर्ग देवादि कृत होते हैं। परीषह व उपसर्ग में सूक्ष्म रूप से यही अन्तर है। पीड़ा उत्पन्न करने के कारण परीषहों को उपसर्ग भी कह सकते हैं। इस प्रकार गिनने से एकार्थक भी हो सकते हैं।

१६४७ प्र.—अवधिज्ञान के इन चारों भेदों में क्या अन्तर है—प्रतिपाति, अप्रतिपाति, अवस्थित व अनवस्थित।

उत्तर—जो अवधि दीपक बुझने की भांति सर्वथा एक साथ नष्ट हो, उसे प्रतिपाति कहते हैं। जो अवधिज्ञान केवलज्ञान होने तक या जीवन-पर्यन्त रहे, उसे अप्रतिपाति कहा जाता है। अप्रतिपाति में वृद्धि आदि हो सकती है। जिसमें हानि या वृद्धि न हो, उसे अवस्थित अवधि कहते हैं। इसके विपरीत जिसमें हानि या वृद्धि होती हो उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

१६४८ प्र.— अणुव्रत या महाव्रत धारण करने से केवल शुभ भावना का ही लाभ मिलता है, या निर्जरा का भी। यदि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव प्रशस्त उदीरणा करें, तो क्या उनके सकाम-निर्जरा नहीं होती है ?

उत्तर— अणुव्रत या महाव्रत धारण करने से केवल शुभ भावना का ही लाभ नहीं मिलता, बल्कि निर्जरा का भी लाभ मिलता है। गुणस्थानवर्ती निकट भविष्य में समकित प्राप्त करने वाले जीवों को छोड़ कर शेष पहले गुणस्थानवाले जीवों के मोक्ष की हेतुभूत सकाम-निर्जरा होने का संभव ही नहीं है।

यदि पहले गुणस्थान में अन्य जीवों के सकाम-निर्जरा होती, तो अभव्य तथा अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीव जो अनन्त बार विशुद्ध चारित्र की क्रिया कर के नव ग्रैवेयक तक गए हैं, वे भी मोक्ष के अधिकारी बन जाते, परन्तु नहीं बने। अतः इससे स्पष्ट है कि उनकी मिथ्यात्व युक्त क्रिया मोक्ष प्राप्ति में हेतुभूत नहीं है।

१६४९ प्र.–यदि साधु मील के कपड़े पहनें तो क्या उन्हें चर्बी की क्रिया लगती है ?

उत्तर– भगवान् की आज्ञानुकूल वस्त्र लेने वाले साधु को मील का वस्त्र लेने पर भी मील, चर्बी आदि की क्रिया नहीं लगती। क्योंकि साधु तीन करण तीन योग से पाप के त्यागी होते है। अतः वे प्रासुक एषणीय मर्यादानुसार वस्त्र मिलने पर ही लेते हैं *।

१६५० प्र.–साधु को साबुन-सोडे का प्रयोग क्यों नहीं करना चाहिए ?

उत्तर– साधु को विभूषा करने का निषेध है †। तथा

---

* जानकारों से ज्ञात हुआ कि सस्ती क्वालिटी के लट्ठे, खादी, जीन आदि में चर्बी का प्रयोग बहुत महँगा पड़ता है। अतः फाईन, सुपरफाईन क्वालिटी में ही चर्बी या वैसे अन्य पदार्थों का उपयोग होता है। अतः एक आंक में तो चर्बी का स्पर्श ही नही होता।

† दशवैकालिक अ. ६ में आचार के १८ स्थान बताए हैं। उनसे एक से भी भ्रष्ट होने वाला साधुपने से भ्रष्ट हो जाता है। उन अठारह स्थानों में अन्तिम 'सोह वज्जणं' शरीर की विभूषा बताई गई है। दशवैकालिक

साबुन-सोडे का पानी जीव विराधना का कारण है। अतःइनसे वस्त्र धोना अकल्पनीय तथा प्रायश्चित्त का कारण है।

१६५१ प्र.– परेंडे (पानी रखने का स्थान–परणा) का पानी सचित्त, अचित्त, या मिश्र गिना जाय ? धोवण व गरम पानी कितने कालोपरान्त सचित्त बन जाता है ?

उत्तर– परेंडे का पानी सचित्त होता है। परेंडे को धोया हुआ पानी मिश्र होना संभव है। वास्तविक धोवण (पूर्ण शस्त्रपरिणत) उसी दिन साधु को लेना कल्पता है, लेकिन सूयगडांग अ. १९ के अनुसार बाद में सचित्त भी हो सकता है। गर्म पानी ठण्डा होने के बाद चौमासे में तीन प्रहर, सियाले में चार प्रहर व ग्रीष्म में पाँच प्रहर तक अचित्त रहता है, ऐसा टीकादि में बताया है।

१६५२ प्र.– आप स्थानक में उतरने का निषेध करते हैं, और आप खीचन में जिस स्थान में रहते हैं, वह भी 'स्थानक' कहलाता है। यह विषमता क्यों ? प्रश्नव्याकरण में तीसरे

अ. ३ में ५२ अनाचार बताए हैं, उनमें से ७, ८, १४, १५, १७, २७, ४५, ४६, ५०, ५१ आदि सभी अनाचार शरीर-विभूषा से सम्बन्ध रखते हैं। बल्कि ५२ वाँ अनाचार ही शरीर की विभूषा है। विभूषा से हिंसा तो होती ही है। व्रत का भंग होने से झूठ भी लगता है। बेचारे त्रस-स्थावर प्राणियों के प्राणों की चोरी भी होती है। ब्रह्मचर्य में तो विभूषा को दुधारी तलवार समझना चाहिए। पांचवाँ व्रत अपरिग्रह भी भंग होता है, क्योंकि फिर वस्त्रों, साबुन, नील, सोडा, शरीर सभी पर ममत्व भाव हो जाता है।

व्रत की पाँच भावनाएँ कौनसी है ?

उत्तर– आधाकर्मादि दोष-रहित स्थान मुनि के ठहरने य होता है। जो मकान (स्थान, स्थानक) मुनि के लिए । हो, खरीदा हो, मुनि के लिए किराए पर लिया हो, गादि दोष युक्त स्थान में ठहरने से मुनि के मुनिपने का ा होता है। यह बात दशवैकालिक अ. ६, भगवती आदि क सूत्रों में कही गई है। दोष युक्त स्थान का सेवन गलती हो जाने पर भी मुनि को प्रायश्चित्त आता है।

स्थान या स्थानक शब्द से हमारा विरोध नहीं है। स्थानक सीधा अर्थ है–ठहरने की जगह। स्थान और स्थानक इन नों शब्दों का एक ही अर्थ है। जहाँ जो ठहरता हो वह का स्थान कहलाता है। जैसे कि सिद्ध भगवान् के ठहरने जगह को सिद्धस्थान, सिद्धालय आदि कहते हैं। इसी प्रकार रक, देव, चूहा, कुत्ता, पृथ्वीकाय या अप्काय आदि के जीव ाँ भी ठहरते हैं, वह उनका स्थान (स्थानक) कहलाता है। यिक, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च यावत् सिद्ध आदि सभी जीवों स्थान (स्थानक) पन्नवणा सूत्र के दूसरे पद में बताए गए । बिना स्थान (स्थानक) के जीव है ही कौन ? अतः स्थान स्थानक) शब्द से कोई विरोध नहीं है। परन्तु साधु-साध्वी के ए बनाए गए आदि आहारादि के समान साधु-साध्वी के हरने के लिए निर्मित आदि सदोष स्थान (स्थानक) से रोध है। ऐसे स्थान (स्थानक) में साधु को नहीं उतरना ाहिए। ऐसे सदोष स्थान में ठहरने की भगवान् की मनाई

है। जब कि साधु के निमित्त बने हुए स्थान (स्थानक) में साधु को उतरने का निषेध है तो फिर स्थानक बनाने के लिए उपदेश देना तो मुनि को कल्पता ही कैसे है ? अर्थात् स्थानक बनाने के लिए उपदेश देना मुनि मर्यादा से विरुद्ध है। उसी प्रकार उस पर कब्जा रखना आदि भी साधु मर्यादा के विपरीत है।

तीसरे व्रत की पाँच भावनाओं में भी यही बात कही गई है कि साधु निर्दोष जगह की आज्ञा लेकर उतरे। जैसे कि-देवकुल, सभा, प्याऊ, मठ, वृक्षमूल, आराम (बगीचा), गुफा, स्थान, गिरिगुफा, रथशाला आदि जगहों की आज्ञा लेकर उतरे।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ प्रश्नव्याकरण सूत्र में आई है। वहाँ उपाश्रय, वसति, सेज्जा शब्द आए हैं, किन्तु मूलपाठ में स्थान या स्थानक शब्द नहीं है। यह बात तो पूर्व ही स्पष्ट की जा चुकी है कि-स्थान (स्थानक) शब्द से विरोध नहीं, विरोध सदोष स्थानक से है।

प्र. १६५३-नववें गुणस्थान में मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम कहा है। माया-कषाय तक का क्षय या उपशम तो नववें गुणस्थान के अंतिम समय में हो जाता है। फिर १० वें गुणस्थान में किस अपेक्षा से 'मायावत्तिया' क्रिया कही गई है ?

उत्तर-मोहनीय कर्म की अठाइस प्रकृत्तियाँ हैं, जिनमें दसवें गुणस्थान में सिर्फ सूक्ष्म संज्वलन लोभ का ही उदय रहता है, शेष सताइस का क्षय या उपशम होता है। माया-

कषाय का उदय नहीं होने पर भी मायावत्तिया क्रिया लगने का कारण निम्न प्रकार से है—

यहाँ मायावत्तिया क्रिया में माया कहने से कपट रूप माया-कषाय न समझ कर उपलक्षण से क्रोधादि चारों कषायों को 'माया' समझना। अर्थात् चारों में से किसी भी कषाय के कारण से जो क्रिया लगे उसको मायावत्तिया क्रिया कहते हैं।

१६५४ प्र.—बारहवें देवलोक तक के देवों के तेजस् शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की कही गई है। उनमें से कोई देव मनुष्य-क्षेत्र में आकर पूर्व अनुराग वश स्त्री के साथ भोग-भोगता हुआ मर कर उसी स्त्री के गर्भ में उत्पन्न हो सकता है। ऐसा उदाहरण पन्नवणा सूत्र की टीका में दिया गया है। परन्तु बारहवें देवलोक में पहले-दूसरे देवलोक की भाँति कायपरिचारणा तो है नहीं, वहाँ तो मन-परिचारणा ही है, तथा इक्कीस-बावीस सागरोपम का आयुष्य कहा है, सो इतने समयोपरान्त उसके माता-पिता स्त्री आदि रह नहीं सकते फिर यह सब किस प्रकार समझना योग्य है?

उत्तर—स्वाभाविक रूप से तो नववें देवलोक से बारहवें देवलोक तक मन-परिचारणा ही है। परन्तु मर्यादा का उल्लंघन कर के वहाँ के कोई कोई देव अन्य परिचारणा भी कर लेते हैं। जैसे यहाँ भी कोई मनुष्य मर्यादा उल्लंघन कर अनंग-क्रीड़ा, पशु आदि के साथ मैथुन आदि भी कर लेते हैं, उसी प्रकार वे भी नीति-मर्यादा का उल्लंघन कर अन्य परिचारणा कर

लेते हैं। इक्कीस-बावीस सागरोपम तक माता, पिता, स्त्री आदि की मौजूदगी उसी भव रूप से तो कायम नहीं रहती, परन्तु वे भवान्तर के संबंधी होने से स्त्री आदि पर अनुरागी होकर आलिंगनादि कर देते हैं। उस अपेक्षा से यह उदाहरण दिया है। इस तरह से यह अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना हो सकने में कोई बाधा नहीं आती।

१६५५ प्र.—श्री भगवती सूत्र का यह उल्लेख किस अपेक्षा से है कि वायुकाय के जीव बिना उपक्रम से नहीं मरते हैं?

उत्तर—वायुकाय के जीव बिना उपक्रम के नहीं मरते, ऐसा भगवती का उल्लेख सोपक्रमी की अपेक्षा समझना। भगवती श. २० उ. १० तथा पन्नवणा पद छठे में वायुकाय के जीव निरुपक्रमी व सोपक्रमी दोनों प्रकार के बताए हैं।

१६५६ प्र.—अवधिज्ञानी जब क्षेत्र से भरत-क्षेत्र प्रमाण पुद्गलों को जानते देखते हैं, तब काल से १५ दिन पर्यंत की पुद्गल-पर्याय को जानते देखते हैं, सो यह पंद्रह दिन अतीत के या भविष्यत् के या साढ़े सात दिन अतीत के व साढ़े सात अनागत के। यह किस प्रकार है?

उत्तर—सम्पूर्ण भरत-क्षेत्र प्रमाण अवधि वाले के जो काल-मर्यादा बतलाई है, सो पन्द्रह दिन ही अतीतकाल के तथा पन्द्रह दिन ही अनागत काल के समझना। ऐसा खुलासा नंदी सूत्र की टीका में है। इस प्रकार जहाँ जहाँ अवधिज्ञान की जितनी-जितनी मर्यादा बतलाई है, वहाँ उतना ही भूतकाल तथा उतना ही भविष्यत् काल समझ लेना।

१६५७ प्र.—क्या अकर्कशवेदनीय-कर्म मिथ्यात्वी के द्वारा बांधा जा सकता है ?

उत्तर—अकर्कश वेदनीय-कर्म साधु के सिवाय दूसरे कोई नहीं वाँध सकते हैं । भावपूर्वक साधुपणे की शुद्ध प्रवृति करने से ही अकर्कशवेदनीय का वंध होता है । किन्तु निश्चय-समकित और साधुपना है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता । इसकी पृच्छा भगवती सूत्र शतक ७ उ. ६ में की है ।

१६५८ प्र.—उत्तराध्ययन अ. ३३ गथा २४, २५ का अर्थ क्या है ?

उत्तर—गाथा २४ का अर्थ—सिद्धों के अनन्तवें भाग (यह अनन्तवाँ भाग भी अभव्य से अनन्त गुणा ही समझना चाहिए) जितने स्कंधों को जीव प्रतिसमय भोगता है, उन सब स्कंधों के परमाणु गिनने से सब जीवों से अनन्त गुणे अधिक होते हैं । (उन एक-एक परमाणु में जघन्य भी सब जीवों से अनन्त गुणा रस विभाग पलिच्छेद होता है । ऐसा पांचवे कर्मग्रंथ की ६२ वीं गाथा के अर्थ में है ।)

गाथा २५ का अर्थ—इसलिए इन कर्मों के अनुभाग-बंध आदि को जान कर पण्डित पुरुष इनका संवर करने में अर्थात् आते हुए कर्मों को रोकने में तथा पूर्व-संचित कर्मों का क्षय करने में यत्न करे । ऐसा मैं कहता हूँ ।

१६५९ प्र.—अभव्य उपरिम ग्रैवेयक तक जाता है, ऐसा तो भगवती-पन्नवणा की टीका से सिद्ध है । मूलपाठ में "असंयत भव्य-द्रव्य देव" शब्द तो है, लेकिन अभव्य ग्रैवेयक

तक जाता है। ऐसे शब्द किस स्थान पर हैं ?

उत्तर—भगवती सूत्र का चालीसवां शतक संज्ञीमहायुग्म है। इसके इक्कीस अन्तर शतक हैं। इनमें से पन्द्रहवें से इक्कीसवें तक के अभवी के सात अन्तर-शतक है। पंद्रहवें अन्तर-शतक में अभवी का प्रश्न है। वहाँ अभवी जीव का अनुत्तर विमानों से आना (उद्वर्तना) तथा जाना (उपपात) का निषेध किया है, वाकी कोई स्थान वर्जित नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि अभवी नवग्रैवेयक में हैं। इसलिए वहाँ से उनकी उद्-वर्तना होती है। यहाँ से नवग्रैवेयक में अभी जीव जाते भी हैं। इसलिए उनका वहाँ उपपात है। आगे सतरहवें से इक्कीसवें अन्तर-शतक सम्मिलित ही दिए गए हैं। उसमें इक्कीसवां अन्तर-शतक अभवी शुक्ल-लेश्या का है। अभवी शुक्ल-लेश्या की स्थिति अंतर्मुहूर्त्त अधिक इकतीस सागरोपम की बताई है। इससे अभवी का उपरिम ग्रैवेयक तक जाना सिद्ध है। क्योंकि इससे ज्यादा शुक्ल-लेश्या की स्थिति अनुत्तर विमान का निषेध होने के कारण नहीं मिलती। सम्पूर्ण चालीसवां शतक देख लेने से सारा विषय स्पष्ट हो जाएगा।

१६६० प्र.—क्या हमारा ऐसा अनुमान सही है कि देवदूष्य को चीर कर गले में डालते होंगे जिससे दोनों ओर के गुप्तांग ढंके रहते होंगे ?

उत्तर—'अभिधान राजेंद्र कोष' के चौथे भाग में तित्थयर शब्द पर १२५ द्वार कहे गए हैं। जिसके तीसरे द्वार में ऐसा बताया गया है कि तीर्थंकर वस्त्र इसलिए धारण करते हैं कि

उनका तीर्थ (साधु आदि संघ) वस्त्र-सहित ही होता है। किन्तु वस्त्र तीर्थंकरों के लिए लज्जा आदि ढंकने के लिए नहीं होता। चोराणुवें द्वार में कहा गया है–

"सक्कोय लक्खमुल्लं, सूरदूसं ठवइ सव्वजिणखंधे"–ऐसा कहा है। स्कंध पर रखने से ही वह १३ महीने से गिर गया यह बात बैठ सकती है। यदि गले में रखा हुआ हो, तो फिर गिरने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। फिर सड़ कर या गल कर पड़े, या निकाल कर फेंके तो ही अलग हो सकता है। आचारांग अ. ९ गाथा २ में–"एवं खु अणुधम्मियं तस्स" शब्द दिया है। अतः उस वस्त्र को धारण करने का एकमात्र यही कारण था कि पहले के सभी तीर्थंकरों ने देवदूष्य वस्त्र को धारण किया था। अतः भगवान् के लिए यह पूर्वाचरित धर्म था। इस गाथा की टीका में बहुत स्पष्टता की है। प्रायः उसका अनुवाद बीकानेर वाले आचारांग में हैं। वह दृष्टव्य है।

१६६१ प्र.– क्या सभी बादर वायुकाय में वैक्रिय-लब्धि होती है? तथा क्या यह आवश्यक है कि वायु वैक्रिय के बिना न चले?

उत्तर– सूक्ष्म वायुकाय के अपर्याप्त, पर्याप्त, बादर वायुकाय के अपर्याप्त इन तीनों में तो वैक्रिय लब्धि नहीं है। बादर वायुकाय के पर्याप्तों में वैक्रिय-लब्धि है, किन्तु इनमें भी सबके नहीं। यानि बादर वायुकाय के पर्याप्त जितने जीव हैं. उनमें से संख्यातवें भाग जीवों को वैक्रिय लब्धि है, यह बात पन्नवणा के बारहवें पद की टीका में बताई है। वायुकाय का चलना

तीन प्रकार से होता है– १ खुद के स्वभाव से २ विकुर्वणा (वैक्रिय) करने से ३ वायुकुमार जाति के देव-देवियों के द्वारा वायुकाय की उदीरणा करने से। यह वर्णन भगवती श. ५ उ. २ में है।

१६६२ प्र.– साधुओं के बावन अनाचारों में पन्द्रहवाँ अनाचार अंगुली आदि से मञ्जन करने का है, सो यह भोजन से पूर्व समझना या भोजनोपरान्त ?

उत्तर– भोजन के पहले व पश्चात् दातुन करना साधु के लिए मना है। जो भोजन करने के बाद दांतों में रहे अंश को साफ कर निगला जाता है, उसे दातुन नहीं कहते। अतः उस भोजन के अंश को साफ कर के साधु को निगलना ही ठीक है। तथा किसी के दाँतों में तकलीफ हो तथा उस कारण से दवा लगाना पड़े, तो भी उसमें दातुन के भाव नहीं होने चाहिए। दातुन के व विभूषा के भाव होने पर उसको प्रायश्चित्त का कारण बताया है।

१६६३ प्र.– सम्मूर्च्छिम मनुष्य अपर्याप्त ही होता है, फिर भी अनुयोगद्वार सूत्र में पर्याप्त व अपर्याप्त दो भेद किस अपेक्षा से किए हैं ?

उत्तर– सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में भी सब की स्थिति समान नहीं होती। उनमें उत्कृष्ट स्थिति वाले भी होते हैं, तथा जघन्य स्थिति वाले भी। जो उत्कृष्ट स्थिति वाले होते हैं. उन्हें पर्याप्त माना गया है, शेष को अपर्याप्त। वैसे तो सभी चौथी पर्याप्ति के अपर्याप्त रहते ही काल करते हैं।

१६६४ प्र.– श्री ब्राह्मीजी व सुंदरीजी की अवगाहना व आयुष्य कितना था ? इसका शास्त्रीय प्रमाण दिखलावें।

उत्तर– ब्राह्मीजी व सुन्दरीजी की अवगाहना ५०० धनुष की स्थानांग स्थान ५ उ. २ में बताई गई है और ८४ लाख पूर्व का सर्वायु भोग कर ये मोक्ष पधारीं। ऐसा उल्लेख समवायांग सूत्र के चोरासीवें समवाय में है। जंबूद्वीपपन्नति, कल्पसूत्रादि से ज्ञात होता है कि ये भगवान् ऋषभदेव की प्रमुख साध्वियाँ थी। अधिक वर्णन आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलयगिरि, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि में बतलाया गया है।

१६६५ प्र.– जिस समय भरत-क्षेत्र में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि त्रेसठ श्लाघनीय महापुरुषों का जन्म होता है, क्या उसी समय ऐरवत क्षेत्र में भी होता है ?

उत्तर– स्थानांग २ उ. २ में बताया है कि भरत-क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं, तब ऐरवत क्षेत्र में भी उत्पन्न होते हैं।

१६६६ प्र.–चक्रवर्ती को किसी के उपदेश से वैराग्य होता है या स्वयं ही ?

उत्तर–चक्रवर्ती का वैराग्य किसी के उपदेश से भी हो सकता है तथा स्वयं भी।

१६६७ प्र.–जिस प्रकार भरतक्षेत्र में दस अच्छेरे हुए, क्या वैसे ही ऐरवत क्षेत्र में भी हुए ?

उत्तर–ऐरवत क्षेत्र में उन्नीसवें तीर्थंकर तो स्त्री हुए, लेकिन शेष अच्छेरे वहाँ पृथक् नहीं समझना। जो अच्छेरे यहाँ हुए हैं, उन्हीं का वर्णन भगवान् ने फरमाया।

१६६८ प्र.–जब भगवान् मल्लिनाथजी का स्त्रीवेद था. फिर उन्हें मल्लीनाथजी क्यों कहा ? मल्लिकुमारी क्यों नहीं कहा ? क्या मल्लिनाथ कहने से झूठ नहीं लगता ?

उत्तर–मल्लिनाथ भगवान् को दुनियाँ की तरफ से तो 'विदेहवररायकण्णा' कहा जाता था और शास्त्रकार की तरह से मल्लि अरहा, मल्लि जिणो, मल्लिस्स भगवओ........ आदि आदि पुरुषलिंग वाचक शब्दों का प्रयोग किया है। मल्लिप्रभु तीर्थनाथ थे, अतः उन्हें मल्लिनाथ कहने में कोई बाधा नहीं तथा झूठ भी नहीं लगता है। दुनियाँ में स्त्री बादशाह शहंशाह हो जाने पर उनको पुरुषलिंग में बादशाह शहंशाह आदि कहते हैं। इसी तरह भगवान् लोकनाथ, तीर्थनाथ आदि होने से उन्हें मल्लिनाथ कहने में कोई बाधा नहीं है। तथा उनको नमोत्थुणं आदि देते समय भी लोकनाहाणं आदि शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। समवायांग चौवीसवें समवाय में चौवीस देवाधिदेव कहे गए हैं, परन्तु तेवीस देवाधिदेव एवं एक 'देवाधिदेवी' ऐसा नहीं बताया। इसी तरह से पच्चीसवें समवाय में मल्लि अरहा कहा, पर स्त्रीलिंग शब्द नहीं कहा है। इसी तरह समवायांग के अन्तिम विभाग में चौवीस तीर्थंकर कहे, किन्तु तेवीस तीर्थंकर एवं एक 'तीर्थंकरी' ऐसा नहीं कहा। इत्यादि बातों से स्पष्ट है कि तीर्थनाथ आदि की अपेक्षा से उन्हें मल्लिनाथ कहते हैं। जो सर्वथा सत्य एवं उचित है।

१६६९ प्र.–जब कोणिक ने श्रेणिक महाराजा को बंधन में

डाला, तब उस समय राज्य-कर्मचारियों ने कुछ भी क्यों नहीं किया ?

उत्तर–अभयकुमार तो इस घटना के पहले ही मुनि हो गए थे। कालकुमार आदि दसों भ्राताओं को प्रलोभन दे कर कोणिक ने अपने वश में कर लिया था। अतः खास-खास लोग तो कोणिक के पक्ष में हो ही गए थे। तथा सामान्य लोगों का उनके सामने जोर नहीं चल सकता था। अतः सामान्य राज-कर्मचारियों ने कुछ नहीं किया, ऐसा प्रतीत होता है।

१६७० प्र.–चेलणा रानी ने धर्म-रसिक होते हुए भी दोहद पूर्ति के लिए मांस कैसे खाया ?

उत्तर–दोहद गर्भ की प्रेरणा से होता है। उस समय माता का चित्त स्वाधीन नहीं रहता। गर्भ के प्रभाव से ही चेलणा ने मांस ग्रहण किया। स्वाधीनता में मिथ्यादृष्टि स्त्री भी प्रेमी पति के कलेजे का मांस खाने की इच्छा नहीं करती है। दोहद पूर्ति के पश्चात् चेलणा रानी को विचार हुआ कि गर्भगत बालक ने पिता के कलेजे का माँस ग्रहण किया, अतः ऐसे गर्भ को मैं सड़ा दूं, गला दूं, गिरा दूं आदि। इससे स्पष्ट है कि वे मांस-भक्षण संबंधी विचार गर्भ के थे, चेलणा के नहीं। उस गर्भ के गंदे विचारों के कारण ही चेलणा की इच्छा गर्भ को गलाने आदि की हुई। खुद चेलणा को तो उस गर्भ के विचारों से बहुत घृणा हुई, जो निरयावलिका सूत्र के मूलपाठ से स्पष्ट है।

१६७१ प्र.–भगवान् महावीर स्वामी ने नालंदा पाड़े में

चौदह वर्षावास लगातार किए, या फासले से ? इसका वर्णन कहाँ है ?

उत्तर–तीर्थंकर भगवान् भी दो चातुर्मास अन्यत्र करके ही तृतीय चातुर्मास करते हैं। अतः श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने चौदह चातुर्मास जो नालंदा पाड़े में किए वे लगातार नहीं किए। इसका वर्णन कल्पसूत्र के अर्थ टीकादि में है।

१६७२ प्र.–वर्तमान चौवीसी के द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ भगवान् के साधु-साध्वियों का वर्णन बीकानेर निवासी गोविंदरामजी भीखमचंदजी भंसाली द्वारा प्रकाशित 'चौबीस तीर्थंकरों का लेखा' नामक पन्ने में २०–२२ हजार व ४०–४४ हजार लिखा है। सो वास्तव में साधु बीस हजार हुए या बावीस हजार, तथा साध्वीजी चालीस हजार या चमालीस हजार हुई ? दो-दो संख्याओं से संदेहोत्पत्ति होती है सो कृपया समाधान करावें।

उत्तर–बीकानेर तथा अन्य स्थानों से छपे पन्नों में जैसा आपने लिखा है, उसके अनुसार ही है। तथा जबानी बोलने वाले साधु-साध्वी, श्रावक आदि भी इसी प्रकार बोलते हैं। बत्तीस सूत्रों के मूलपाठ में तो अजितनाथ भगवान् के केवली साधु व साध्वियों का वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु आवश्यक बृहद्वृत्ति के प्रथम अध्ययन में तथा प्रवचन-सारोद्धार सटीक के इक्कीसवें द्वार में इसका वर्णन दिया है। वहाँ अजितनाथ भगवान् के बीस हजार साधु केवली बताए हैं। यह मुख्य मान्यता है। कोई-कोई आचार्य बावीस हजार बताते हैं, यह

मतान्तर है। मुख्य मान्यता में बीस हजार व चालीस हजार ही समझना चाहिए। मतान्तर में बावीस हजार व चमालीस हजार बताए हैं। ज्यादा झुकाव मुख्य मान्यता पर ही रहा करता है।

१६७३ प्र.–चौवीस तीर्थंकरों में से अधिकांश तीर्थंकरों के केवली साधुओं की संख्या से केवली साध्वियों की संख्या दुगुनी है सो यह नियम है क्या ? जिससे केवली साधुओं से केवली साध्वियों की संख्या दुगुनी होती है ?

उत्तर–केवली साधुओं की संख्या से केवली साध्वियों की संख्या दुगुनी होनी ही चाहिए, ऐसा कोई शास्त्रीय नियम तो नहीं है, तथापि इस चौबीसी में सभी तीर्थंकरों के केवली साधुओं से केवली साध्वियों की संख्या दुगुनी ग्रंथों में उपलब्ध होती है। अतः कभी ठीक दुगुने कभी इससे ज्यादा व कभी इससे कम भी हो सकती है। इसमें कोई बाधा जैसी बात नहीं है।

१६७४ प्र.–क्या मूंगफली जमीकंद है ? कई इसे जमीकंद नहीं भी गिनते हैं, तथा क्या जमीकंद के त्याग वाला मूंगफली, सूंठ, हल्दी आदि खा सकता है ? क्या इससे व्रत में बट्टा नहीं लगता ? आलू, सूंठ, प्याज व हल्दी इसमें पाप किसमें ज्यादा व किसमें कम ?

उत्तर–वर्षा की ठंडी हवा लगने से थैले में पड़ी हुई मूंगफली में व मूंगफली के दाने में अंकुर पैदा हो जाते हैं। इससे जमीकंद होना संभवित है। तथा ये जमीन में ही उत्पन्न होती है, अतः इसको जमीकंद समझना।

जमीकंद के त्याग करने वाले के खास करके आलेन्गीले हरे जमीकंद खाने के त्याग होते हैं। उसी अपेक्षा से उसको त्याग कराए जाते हैं। अतः सूखी सूंठ, हल्दी खाने से उसके त्याग में बाधा नहीं आती, लेकिन गीली सूंठ-हल्दी वह नियमानुसार नहीं खा सकता है। आलू, प्याज, सूंठ, हल्दी आदि हरे तो जमीकंद ही है। गीली सूंठ व गीली हल्दी को जमीकंद व व्यवहार-दृष्टि की अपेक्षा तो समान ही गिना जाता है, भावों को अपेक्षा निश्चय ज्ञानी ही जानते हैं †।

---

† कच्ची मूंगफली की निश्राय में अनंत जीव होते हैं। अतः जमीकंद का बल्कि अनंतकाय का त्यागी कच्ची मूंगफली नहीं खा सकता। जब मूंगफली पक जाती है, उसमें दूध नही रहता तथा छिलके सहित हो या रहित, व प्रत्येककाय में गिनी जाती है। साधु उसे अशस्त्रपरिणत अवस्था में नहीं लेते। त्याग करने वाले ने यदि मूंगफली का अनंतकायिक अवस्था का त्याग किया है, तो वह कच्ची नही खा सकता।

या तो अनंतजीव मिल कर एक शरीर बनाते हैं, या एक जीव का अपना शरीर होता है। यह भी नियम है कि कंदमूल या जमीकंद या अनंतकायिक लसण, प्याज आदि सभी जब तक सचित रहेंगे, नियमा अनंतजीवी होंगे। यह नही हो सकता कि वे असंख्यात जीवी, संख्यातजीवी या एक जीवी हो जायें। वे नियमा अचित ही होंगे। यानि जमीकंद सचित है तो अनंतजीव युक्त है, अचित है तो एक भी जीव नही।

इस कसौटी पर जब मूंगफली परखी जाती है, तो वह प्रत्येक काय ध्यान में आती है। क्योंकि मूंजने पर उसे जमीकंद नहीं मानते, अनंतकायिक नही गिनते। जमीन से निकलने के कारण भले ही जमीकंद कह दें, पर कच्ची

१६७५– सभी जीव अनन्त बार नव ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए। यह कथन क्या व्यवहार-राशि की अपेक्षा किया गया है।

उत्तर– हाँ, सभी जीव अनन्ती बार नव ग्रैवेयक में उत्पन्न होने का उल्लेख व्यवहार-राशि विषयक जानना। अव्यवहार-राशि वाले जीव तो मात्र सूक्ष्म निगोद में ही मिलते हैं।

१६७६ प्र.– जिन्होंने समकित से च्युत होकर मिथ्यात्व अवस्था में वैमानिक से व्यतिरिक्त आयुष्य बांधा, क्या वे मृत्यु के अवसर पर निश्चित रूप से विराधक ही होते हैं।

उत्तर– प्रश्नोक्त प्रकार से जिन्होंने आयुष्य बाँधा हो, वे मृत्यु-काल में निश्चय ही व्रतों के आराधक नहीं होते हैं। मिथ्यात्व अवस्था में आयुष्य बांध कर फिर से वे सम्यक्त्व युक्त होकर तथा समकित युक्त काल कर के चारों में से किसी भी गति में जा सकते हैं। परन्तु वे देश या सर्वचारित्र के आराधक नहीं हो सकते।

१६७७ प्र.–विराधक का अर्थ क्या मिथ्यात्व प्राप्ति तक समझना चाहिए।

उत्तर–विराधक देशव्रती के, सर्वव्रती के तथा समकित के भी हो सकते हैं। सभी विराधक मिथ्यात्व प्राप्ति तक पहुँचे, ऐसा नियम नहीं है। आयुष्य-बंध के या मृत्यु के प्रसंग आदि को लक्ष कर के आराधक या विराधक समझे जाते हैं।

अवस्था में अनंत जीव उसकी निश्राय में उत्पन्न होने से लेने का निषेध करते हैं। प्याज की भांति सदा उसमें अनंत जीव नहीं रहते। त्याग करते समय जो भावना हो, उसमें बट्टा नहीं लगना चाहिए।

१६७८–प्र. आहार कसमुद्घात करते समय 'कषाय-कुशील' अप्रतिसेवी होते हैं या प्रतिसेवी ?

उत्तर– *कषाय-कुशील निर्ग्रंथ अप्रतिसेवी ही होते हैं,* ऐसा भगवती श. २५ उ. ६ में बताया है। जब तक वे अप्रतिसेवी रहेंगे तब तक कषाय-कुशीलादि गिने जाएँगे तथा प्रतिसेवी होते ही पुलाक, बकुश व प्रतिसेवना-कुशील आदि में से किसी-न-किसी में उनके परिणामानुसार उनकी गणना हो जाएगी। यह तो स्पष्ट है कि सभी तरह के निर्ग्रंथों का स्वरूप उनके परिणामानुसार ही होता है। अब इसमें प्रश्न यह पैदा होता है कि आहारक-समुद्घात 'कषाय-कुशील 'निर्ग्रंथ में ही होती है, अन्य में नहीं। और यह समुद्घात करते हुए जीव-विराधना के कारण ३–४ या ५ क्रियाएँ लगती हैं। अतः यह प्रतिसेवी भी होता होगा, लेकिन वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। इसका उत्तर इस प्रकार जँचता है कि कषाय-कुशील में ही आहारक-लब्धि पैदा होती है और जो भी जीव आहारक-समुद्घात प्रारम्भ करते हैं, वे कषाय-कुशीलपणे में ही प्रारंभ करते हैं। बाद उनमें विराधना के प्रसंग पर बकुश या पडिसेवना होने का संभव है। अतः कषाय-कुशील को अप्रतिसेवी ही समझना आगमानुसार सही प्रतीत होता है।

आहारक-समुद्घात प्रारम्भ के बाद वे बकुश और प्रतिसेवना में आ जाते है, परन्तु बकुश और प्रतिसेवना में आहारक-लब्धि पैदा नहीं होती, तथा आहारक-समुद्घात का प्रारंभ भी नहीं करते। अतः इसमें आहारक-समुद्घात नहीं गिनी गई है।

जैसे कि निर्ग्रथ (नियंठे) पणे में मरण तो होता है, किन्तु वहाँ मारणांतिक-समुद्घात या कोई भी समुद्घात नहीं मानी गई हैं। क्योंकि वहाँ किसी भी समुद्घात का प्रारम्भ नहीं होता है।

१६७९प्र.–पुलाक के उत्कृष्ट तीन भव कहे गए हैं, सो केवल मनुष्य के ही या देव-मनुष्य के मिला कर कुल ?

उत्तर–जीव को पुलाकपन ज्यादा से ज्यादा तीन भव में प्राप्त हो सकता है। पुलाकपना मनुष्य-भव के अलावा अन्य भवों में हो ही नहीं सकता। यहाँ पर जो तीन भवों की गणना है, वह पुलाक-लब्धि प्राप्त भवों की अपेक्षा बताई गई है। अन्यथा तो पुलाक-लब्धि प्राप्ति के बाद जीव बिना पुलाक-लब्धि वाले अनन्त भव भी कर सकता है। अतः यहाँ मनुष्य के भी शेष होने वाले भवों को छोड़ कर पुलाक की प्राप्ति वाले ही तीन भव लिए गए हैं।

१६८० प्र.–निर्ग्रंथ में छः लेश्याएँ द्रव्य से हैं, या भाव से?

उत्तर– निर्ग्रंथ में तो द्रव्य-भाव से एक शुक्ल-लेश्या ही होती है, अन्य नहीं। आपने निर्ग्रंथ विषयक प्रश्न किया है, अतः उसी का उत्तर दिया गया है। किन्तु यदि पूछने का विचार कषाय-कुशील के लिए हो तो टीकाकार का कथन है कि भाव अशुभ लेश्या में संयम नहीं होता। संयमी में भाव-लेश्या तो तेजो आदि तीनों में की ही हो सकती है और द्रव्य-लेश्या छहों ही होती है। परन्तु मेरे (म. सा. के) विचार से संयमी में द्रव्य-भाव दोनों ही छहों लेश्याएँ हो सकती है। हाँ यह जरूरी है कि संयम प्राप्ति के समय तो तेजो आदि तीन

विशुद्ध में की ही लेश्या होती है। तथा बाद में छहों में से कोई भी लेश्या हो सकती है। यदि उनमें कृष्ण आदि तीन भाव लेश्याएँ न मानी जाय, तो फिर उनमें तीन अशुभ द्रव्य-लेश्या भी कैसे होगी? क्योंकि जीव के चारित्र प्राप्ति होते ही सातवाँ गुणस्थान गिना जाता है। छठे गुणस्थान में जीव सातवें से ही आता है, अन्य से नहीं। जब सप्तम गुणस्थान में तीन विशुद्ध लेश्याएँ ही होती है, तो फिर उनमें छठे गुणस्थान में आने के बाद भाव अशुभ लेश्याओं के बिना द्रव्य अशुभ लेश्याएँ कहाँ से आएगी। हाँ भाव-लेश्या से जो पुद्गल रूप द्रव्य-लेश्या आती है, वह भाव-लेश्या का परिवर्तन होने के बाद भी थोड़ी देर द्रव्य-लेश्या ठहर सकती है। किन्तु बिना भावलेश्या के द्रव्य-लेश्या प्राप्त होने का कोई कारण जाना नहीं। अतः संयति में कभी किंचित् काल के लिए मंदतम रूप से अशुभभाव लेश्या भी हो सकती है। इसी अर्थ को बताने वाली गाथा श्री भद्रबाहु स्वामी विरचित आवश्यक निर्युक्ति के उपोद्घात निर्युक्ति में बताई है। वह यह है–

"पुव्व पडिपुण्णओपुण, अन्नयरीए ओ लेसाए।
सम्मत्त सुअं सव्वासु लहइ, सुद्धासु तीसुय चरित्तं ॥"

यह बात भी ध्यान रखना जरूरी है कि इस बात को ले कर भगवान् महावीर स्वामी या अन्य तीर्थंकरों की साधु अवस्था में ६ लेश्या बताना उपयुक्त नहीं है।

१६८१ प्र.– दु.रा विपाक अ. ७ में जिस धनवन्तारि वैद्य का वर्णन आया है, क्या ये वही धनवन्तारि हो सकते हैं जिनकी

वहुत-से वैद्यों में वर्तमान में "भगवान् धनवन्तरि" के रूप में प्रसिद्धि है ?

उत्तर- सुनने में तो यही आया है कि वर्तमान वहुत-से वैद्यों में जिनकी प्रसिद्धि हैं वे यही धनवन्तरि हैं, जिनका वर्णन दुःख-विपाक के सातवें अध्ययन में है।

१६८२ प्र.- वर्तमान में जिस लक्ष्मी, सरस्वती की उपासना की जाती है, क्या वे पुष्पचूलिका सूत्र में आई लक्ष्मी वुद्धि आदि देवियाँ ही है, या ये दूसरी है ?

उत्तर-"पुष्पचूलिका" में वर्णित लक्ष्मी-वुद्धि ये वैमानिक देवियाँ है। जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति में वर्णित लक्ष्मी व वुद्धि देवियाँ जो भवनपति जाति की है, वे लोक-प्रचलित लक्ष्मी सरस्वती देवियाँ है, ऐसा ध्यान में है तत्त्व केवली गम्य।

१६८३ प्र.- जोधपुर वीकानेर आदि बड़े शहरों में विराजते हुए मुनियों को जिन्हें स्थंडिल गोचरी आदि के लिए वाहर जाना पड़ता है, उन्हें प्रतिदिन संमूर्च्छिम का प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर- ऐसे प्रमुख नगरों में तो प्रायः संमूर्च्छिम लगने का सम्भव रहता है।

१६८४ प्र.- उपवास से वेले का, वेले से तेले का, तेले से चोले का यों क्रमशः कितना गुणा फल मिलता है ?

उत्तर- उपवास से वेले का, वेले से तेले का यों क्रमशः दस गुणा तथा इससे भी ज्यादा तपस्या का फल भगवती श. १६ उ. ४ से स्पष्ट होता है।

१६८५ प्र.- भगवान् अरिष्टनेमिनाथजी समुद्रविजयजी के

पुत्र थे व जैन थे, फिर भी इनके परिवार में तथा उग्रसेनजी भी जैनी नहीं थे। यदि थे, तो इन उच्च कुलों में मांस-मदिरादि का सेवन कैसे होता था ? यदि राजमतीजी व नेमिनाथ भगवान् बाद में जैन हुए, तो यह बात सम्भव भी नहीं लगती ?

उत्तर— प्रत्येक तीर्थंकर जन्मने के पूर्वभव से ही तीन ज्ञान लेकर आते हैं, तथा धर्मनायक धर्मप्रवर्त्तक होते हैं। उनका आचरण तो जीवन में कभी भी मांस-मदिरा का नहीं होता है। उनका सभी परिवार पहले से ही जैन एवं अमांसाहारी हो ऐसा एकान्त नियम तो है नहीं। तद्नुसार भगवान् नेमिनाथ व राजमतीजी का सारा कुटुम्ब जैन एवं अमांसाहारी नहीं था तथा उनके अनेक कुटुम्बियों में मांस-मदिरा भी खाते-पीते थे इसी कुप्रवृति का जोरदार विरोध व निषेध करने के लिए ही भगवान् तोरण तक पधारे थे। अन्यथा भगवान् का विचार तो विवाह का था ही नहीं। भगवान् के बिना शादी किए ही तोरण से लौटने से उनके दिल में मांस के प्रति घोर अरुचि उत्पन्न हुई। जिसके कुटुम्ब में एक जैन हो, उसके कुटुम्ब में सभी जैन ही हों, ऐसा एकांत निश्चित नियम नहीं है। क्योंकि धर्म के प्रति रुचि जीवों के क्षयोपशमादि के कारण होती है, अन्यथा नहीं। खुद महाशतकजी इतने बड़े श्रावक थे, लेकिन उनकी रेवती नाम वाली भार्या गोमांसाहारी थी। कोई साधारण जैन कुटुम्ब के लोग भी चिरकालीन जाति में आचरण होने के कारण वैसा आहार खाने वाले मेहमानों के लिए जाति-रिवाज के कारण कर डालते हैं, पर खुद नहीं खाते हैं। जैसे

जमीकंद या हरी को नहीं खाने वाला कुटुम्ब भी मेहमानों के स्वागत के लिए ये चीजे बना देते हैं।

१६८६ प्र.—यदि राजीमती ने ही जैनधर्म बाद में स्वीकार किया, तो वे जैन-प्रव्रज्या अंगीकार करने को किस प्रकार उद्यत हुई। उनको बोध किसने दिया था?

उत्तर—भगवान् अरिष्टनेमिनाथजी को केवलज्ञान होने की सूचना मिलने से कृष्णवासुदेव, राजीमती आदि भगवान् की सेवा में गए। धर्मदेशना सुनी, तथा श्रीकृष्ण वासुदेव ने भगवान् से राजीमती का भगवान् के प्रति अत्यधिक प्रीति का कारण पूछा, तब भगवान् ने फरमाया कि मेरे व राजीमती के आठ भव लगातार शामिल हो चुके हैं। उस कारण से यह मेरे पर अत्यन्त प्रेम रखती है। प्रभु के उपदेश से वैराग्य पूर्ण उपदेश और भव-वर्णन श्रवण करने से राजीमती को जातिस्मरणज्ञान हुआ। यही राजीमती के जैन-दीक्षा लेने के निमित्त बने।

१६८७ प्र.—उग्रसेनजी श्रीकृष्ण के नाना थे, तो राजीमती की व नेमिनाथजी की सगाई कैसे हुई? क्या उस जमाने में ऐसा होता था? यदि उग्रसेनजी श्रीकृष्ण के नाना थे, तो वे जैन धर्म से सर्वथा अपरिचित हों, सो बात भी संभव नहीं लगती। यदि वे परिचित थे, तो भला मांस का इन्तजाम कैसे किया? क्या उस जमाने में जैनी भी शिकार खेलते तथा मांस-मदिरा सेवन करते थे। यदि हाँ, तो उन्हें जैनी कैसे मानें?

उत्तर—भगवान् नेमिनाथ के पिता दस सगे भाई थे। सबसे बड़े भाई के पुत्र नेमिनाथजी व सबसे छोटे के श्रीकृष्णवासुदेव

थे। अतः यह सगे भाई नहीं थे। यदि कृष्णजी के मामा या नाना की लड़की भी हो तो भगवान् नेमिनाथजी के विवाह करने में क्या बाधा आती है ? उग्रसेनजी कृष्णवासुदेव के सगे नाना व मामा नहीं थे। राज-वंशियों में मामा की लड़की के साथ शादी करने का रिवाज पहले था और आज भी है। दोहिते के जैन होने से नाना भी जैन ही हो, यह एकांत नियम नहीं। अनेक लोग जैनधर्म से परिचित होने पर भी उसे धारण व पालन नहीं करते हैं। जैनधर्म से परिचय होना बुद्धि का कार्य है तथा पालन करना क्षयोपशमादि का कारण है। उस जमाने में भी वास्तविक जैनी तो मांस-मदिरा के त्यागी ही होते थे।

१६८८ प्र.—सम्यक्दृष्टि नरक में जाता है, तब मिथ्यात्व आता है या नहीं ? यदि नहीं, तो समकिती नरक में कैसे जाते हैं ?

उत्तर— जीव के नरकायु का बंध मिथ्यात्व में ही होता है, समकित में नहीं। नरकायु बंध जाने के बाद यदि जीव को समकित आ जावे, तो छठी नरक तक समकित ले कर जा सकता है, सातवीं में नहीं। सातवीं में जाते समय समकित छूट कर मिथ्यात्व अवश्य आ जाता है। वहाँ पुनः समकित आ सकती है।

१६८९ प्र.— मन जीव है या अजीव ? जिस समय आत्मा मोक्ष में जाती है, तब मन साथ जाता है, या नहीं।

उत्तर— मन अजीव है, किन्तु यह जीव के ही होता है, अजीव के नहीं। यह बात भगवती श. १३ उ. ७ में स्पष्ट है

तेरहवें गुणस्थान में मनादि निरोध कर चौदहवें गुणस्थान में जाते हैं। अत: वे 'अयोगी' कहे जाते हैं। अयोगी होकर ही आत्मा मोक्ष जाती है, अत: मन नहीं होता।

१६९० प्र.– ढ़ाई द्वीप के पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्र में १७० विजय कौनसे हैं, तथा 'विजय' किसे कहते हैं ?

उत्तर– चक्रवर्ती के द्वारा जीता जाने वाला विभाग विजय कहलाता है। अर्थात् १ चक्रवर्ती जितने क्षेत्र में राज्य करता है, उसे 'विजय' कहते हैं। एक भरत का १ एक ऐरवत का १ तथा एक महाविदेह के ३२ विजय–यह ३४ विजय तो जंबूद्वीप में हैं। २ भरत+२ एरवत +२ महाविदेह के ६४ यह ६८ विजय धातकी खण्ड में है। इसी प्रकार ६८ विजय पुष्करार्ध की है। ६८+६८+३४ = १७० विजय हुई।

१६९१ प्र.– सातवीं नरक के पर्याप्त मिथ्यात्वी होते हैं या अपर्याप्त ?

उत्तर–सातवीं नरक के अपर्याप्त तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। फिर पर्याप्त होने के बाद अन्य दृष्टि भी हो सकती है।

१६९२ प्र.–भगवान् महावीर का शासन यदि इक्कीस हजार वर्ष ही चलेगा, तो इक्कीस हजार वर्ष का पाँचवां आरा ही है, फिर चौथे आरे में भी तो शासन चला था। अत: अधिक हुआ या नहीं ?

उत्तर– भगवान् महावीर स्वामी का तीर्थंकाल भगवती श. २० उ. ८ में इक्कीस हजार वर्ष का बताया है। हिसाब मिलाने पर कुछ अधिक होता है, परन्तु थोड़ा अधिक होने से

उसकी गणना नहीं की।

१६९३ प्र.—चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवादि जन्मते वक्त ज्ञान वाले होते हैं या नहीं, यदि हाँ तो कितने ज्ञान लेकर आते हैं?

उत्तर— चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, मतिश्रुत दो ज्ञान या अज्ञान लेकर उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती अवधिज्ञान या विभंगज्ञान लेकर भी उत्पन्न होते हैं।

१६९४ प्र.— क्या पत्थर के टुकड़ों में पृथ्वीकायिक जीव जन्म-मरण करते हैं? यदि हाँ, तो पत्थरों में हानि-वृद्धि दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती?

उत्तर— पत्थर के टुकड़ों में जीव माने जाते हैं तथा उनमें जीवों का मरना व पैदा होना भी माना जाता है। ज्यादा जीर्ण होने पर पत्थर खिर-खिर कर घटते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु बिना खदान में रहे पत्थर घटते-बढ़ते नहीं दिखते हैं। उन जीवों का शरीर कठोर व अवगाहना बहुत छोटी होने से तथा हमारी दृष्टि व ज्ञान की मंदता से हमें उनका जन्म मालूम नहीं होता, पर प्रभु की वाणी से मानने योग्य है *।

* कुछ समय पूर्व समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था कि अमुक पर्वतों की ऊँचाई बढ़ रही है। पृथ्वीकायिक जीवों के जन्म-मरण करते रहने से ही पत्थरादि का वर्णादि वैसा रह सकता है। जब वे जीर्ण होने लगे तो समझना चाहिए कि अब उनमें जीवों का जन्म कम हो गया है अथवा बन्द हो गया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सम्यग्दर्शन के ३० वें वर्ष के लेख में छप रहा है।

१६९५ प्र.—एक स्तवन में तीर्थाधिपति सीमंधरस्वामी के लिए इस प्रकार कहा गया है—"सतरवें के वारे जन्मे, वीसवें के वारे दीक्षा ली और भविष्य की चौवीसी के सातवें के वारे मोक्ष जासी।" इसका अर्थ समझ में नहीं आया ?

उत्तर—श्री सीमंधरस्वामीजी महाराज का आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का है, जिसमें से कुँवरपद व राज्यगद्दी दोनों मिलाकर तियासी लाख पूर्व संसार में रहे। एक लाख पूर्व इनकी दीक्षा-पर्याय होगी। इनका जन्म सत्रहवें तीर्थंकर के समय महाविदेह क्षेत्र में हुआ। तथा वीसवें तीर्थंकर भगवान् के समय दीक्षा हुई। भविष्यत् की चौवीसी के सातवें तीर्थंकर के समय मोक्ष पधारेंगे।

१६९६ प्र.— पुण्य एवं धर्म में क्या अन्तर है ? साधु को देने में पुण्य है, या धर्म है ?

उत्तर— कर्मों की शुभ प्रकृति को पुण्य कहते हैं। कर्मों को खपाने के संवर एवं निर्जरा रूप कार्य को धर्म कहते हैं। सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि तथा भव्य, अभव्य के पुण्य-बंध होता है, लेकिन धर्म तो विना समकित के नहीं होता। साधु को वहराने में मुख्य रूप से तो धर्म है, साथ ही पुण्य-प्रकृति का भी बंध होता है।

१६९७ प्र.— चार ज्ञान के धारी चौदह पूर्वी नरक में कैसे जाते हैं ?

उत्तर— नरकायु बंध के बाद संयम लेने वाले या चारित्र-मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से धर्म से विचलित परिणाम वाले

जीव मनःपर्यवज्ञान व चौदह पूर्व से गिर कर तथा मुनिपने से गिर कर नरक में जा सकते हैं।

१६९८ प्र.– भगवान् ऋषभदेव के जीव ने धन्ना सार्थवाह के भव में युगलिक मनुष्य का आयुष्य बांधा, सो समकितावस्था में या मिथ्या अवस्था में ? खुलासा फरमावें।

उत्तर– भगवान् ऋषभदेव के जीव को धन्ना सार्थवाह के भव में समकित प्राप्ति हुई थी। लेकिन सम्यक्त्वी दशा में मनुष्य और तिर्यञ्च वैमानिक के अलावा और किसी भी गति का बंध नहीं करते, ऐसा भगवती श. ३० से स्पष्ट है। तथा एक जीव को एक भव में क्षयोपशम समकित हजारों बार आ जा सकती है। अनुयोगद्वार सूत्र की टीकादि से यह बात स्पष्ट है। अतः धन्ना सार्थवाह ने समकित की अनुपस्थिति में आयुष्य बांधा, ऐसा समझना तथा वे मरकर युगलिक मनुष्य हुए।

१६९९ प्र.–चौथा आरा दुषम-सुषम कैसे कहा जाता है।

उत्तर–पुद्गलिक सुखों की अपेक्षा ज्यादा दुःख और थोड़े सुख रूप काल को दुषम-सुषम नाम का काल कहते हैं।

१७०० प्र.–नरकादि चौवीस दण्डकों की प्ररूपणा क्यों की?

उत्तर–समझाने के तरीके रूप वाक्य-पद्धति को दण्डक कहते हैं। अर्थात् दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग, लेश्या, समुद्घात, इंद्रिय, अवगाहना, स्थिति, कायस्थिति, प्राण आदि अनेक रूप से सांसारिक जीवों का स्वरूप सुगमता से समझाने के लिए ज्ञानियों ने जीवों के ऐसे दंडक (वाक्य पद्धति) रूप विभाग करके बताए हैं।

१७०१ प्र.– साधु को गृहस्थ से याचना कर अठारह प्रकार के स्थान लेना कहाँ बताया है तथा वे कौनसे हैं ?

उत्तर– श्रीप्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे संवरद्वार की प्रथम भावना में १८ स्थान बताए हैं। तथा 'एवमाइयम्मि' शब्द से इसी प्रकार के अन्य स्थान बताए हैं। १ देवकुल २ सभा ३ पवा (प्याउ) ४ सन्यासी लोगों का मठ ५ वृक्ष का मूल ६ आराम ७ कंदरा (गुफा) ८ आगर (लोहादि की उत्पत्ति-स्थान) ९ पर्वत की गुफा १० चूने आदि बनाने का स्थान ११ उद्यान १२ जाणसाला (रथशाला) १३ घर का सामान रखने का स्थान १४ मंडप १५ शून्य घर १६ श्मशान १७ लेण (पर्वत के नीचे का घर) १८ दूकान।

१७०२ प्र.–अठारह लिपियाँ कौनसी कही गई हैं।

उत्तर– पन्नवणाजी के प्रथम पद में ब्राह्मी-लिपि लिखने के निम्न अठारह भेद बताए हैं–१ ब्राह्मी २ यवनानी ३ दोसापुरियां ४ खरोष्ट्री ५ पुक्खरसारिया ६ भोगवती ७ पहराइया ८ अंतरक्खिया ९ अक्खपुट्ठिया १० वैनयिकी ११ निह्नविकी १२ अंकलिपि १३ गणित लिपि १४ गंधर्वलिपि १५ आयम (आदर्श) लिपि १६ माहेश्वरी १७ दोमि लिपि १८ पौलिंदी।

१७०३ प्र.–विषय तथा विकार में क्या अन्तर है ?

उत्तर– इंद्रियों द्वारा शब्दादि ग्रहण करने की शक्ति को 'विषय' कहते हैं। तथा उन शब्दादि में राग-द्वेष की परिणति को 'विकार' कहते हैं।

१७०४ प्र.– समकित-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्व-

मोहनीय किसे कहते हैं, तथा इनको मोहनीय क्यों कहा जाता है

उत्तर— जिसके उदय से वीतराग-प्रणीत शुद्ध तत्त्व श्रद्धा पर रुचि न होवे उसे मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं। जिस उदय से वीतराग प्रणीत शुद्ध तत्त्व श्रद्धान पर न एकान्त रु न एकान्त अरुचि हो, ऐसी मिश्रित अवस्था को मिश्रमोहनी कहते हैं। जिसके उदय से उपशम व क्षायिक समकित न तथा वीतराग प्रणीत शुद्ध तत्त्व पर रुचि होते हुए भी किसी किसी सूक्ष्म पदार्थ पर देश से शंका हो उसे समकित-मोहनी कहते हैं।

ये तीनों दर्शन-मोहनीय कर्म के भेद हैं। अतः इनको मो नीय कहा जाता है।

१७०५ प्र.— पच्चीस बोल के थोकड़े की अल्पाबहुत्व कि प्रकार है?

उत्तर— २३ वें व २५ वें बोल के जीव परस्पर तुल्य सबसे थोड़े। २२ व २४ बोल के जीव परस्पर तुल्य व पिछ बोल से असंख्य गुणे। उससे १३ वें बोल के जीव अनन्त गुणे २, ४, १२ वें बोल के जीव परस्पर तुल्य एवं पिछले बोल विशेषाधिक। ८ व १७ वें बोल के जीव परस्पर तुल्य पिछले बोल से विशेषाधिक। १, ३, ५, ६, ७ १० ११, १ १८ इन ९ बोलों के जीव परस्पर तुल्य एवं पिछले बोल विशेषाधिक। ९, १४, १५, १८, २०, २१ इन ६ बोलों जीव परस्पर तुल्य एवं पिछले बोल से विशेषाधिक। य अजीव (पुद्गलादि) को शामिल समझें तो १४, २०, २१

इन ३ बोलों को पीछे लेना तथा पिछले बोलों के द्रव्य से इन ३ बोलों के द्रव्य अनंतगुणे समझना ।

१७०६ प्र.–ऐसा उल्लेख कौनसे शास्त्र में हैं कि गृहस्थ के घर में साधु बिना किसी संकेत के जाए ?

उत्तर–तिथि समय आदि का संकेत बिना किये ही साधु को गृहस्थ के यहाँ पहुँचना, यह अतिथिसंविभाग व्रत से स्पष्ट होता है । साधु संकेत करके जाएगा तो साधु के निमित्त पानी, हरि आदि की विराधना होने का संभव है । गृहस्थ के आमंत्रण को स्वीकार करके जाना "नियागपिंड" दोष है । ऐसा दशवैकालिक सूत्र आदि में कहा गया है । तथा अन्य विधानों में शास्त्रकारों ने संकेत का निषेध किया है । अतः बिना संकेत ही जाना चाहिए ।

१७०७ प्र –एक प्राणी के वध का त्याग मूल गुण में गिना जाता है, या उत्तर गुण में ?

उत्तर–एक प्राणी के वध का त्याग करने का समावेश उत्तरगुण प्रत्याख्यान रूप सातवें व्रत में समाविष्ट होना संभव है ।

१७०८ प्र.–क्या कर्मग्रंथ में ऐसा उल्लेख है कि मुखवस्त्रिका के बिना वायुकाय के जीवों की रक्षा नहीं होती ?

उत्तर–मुखवस्त्रिका के बिना वायुकाय के जीवों की रक्षा नहीं होती है, ऐसा कर्मग्रंथ में तो देखने में नहीं आया । किन्तु भगवती श. १६ उ. २ में उघाडे मुख बोलने से सावद्य भाषा बताई है । वहाँ अर्थ तथा टीका में कहा है कि हाथ व वस्त्रादि

से यत्ना कर बोलने से वायुकाय के जीवों की रक्षा होती है। निरन्तर तो उपयोग रहना कठिन है, किन्तु अल्प समय के लिए मुखवस्त्रिका के स्थान पर हाथ आदि रखने से वायुकाय के जीवों की रक्षा हो सकती है। आहारादि करते हुए बोलते समय साधु-साध्वी इसी प्रवृत्ति को अपना कर वायुकाय के जीवों की रक्षा करते हैं।

१७०९ प्र.–नपुंसक का आहार चौवीस कवल प्रमाण माना गया है। क्या नपुंसक को शास्त्रीय आधार से दीक्षा दी जा सकती है, तथा यदि नहीं तो मांडला के दोषों में इसका उल्लेख क्यों किया गया है ?

उत्तर–नपुंसकलिंग वालों का सिद्ध होने का वर्णन स्थानांग, पन्नवणा, उत्तराध्ययनादि सूत्रों में बताया है। अतः उनकी दीक्षा होती है, लेकिन आगम-व्यवहारी के अतिरिक्त अन्य साधु उन्हें दीक्षित नहीं कर सकते।

१७१० प्र.–चातुर्मास में दूसरे गाँव का आहार-पानी करने पर उस गाँव में क्या चातुर्मासोपरान्त वहाँ रह सकता है–जहाँ स्थिरवासी न हो ?

उत्तर–चातुर्मास में निकट दूसरे गाँव की गोचरी चालु हो, वहाँ चातुर्मास के बाद नहीं रह सकते। यदि खास प्रसंग से चला गया हो तथा वहाँ आहार-पानी लेने का प्रसंग आ गया हो तो चातुर्मासोपरान्त रहने में कोई अटकाव जाना नहीं। जैसे–चातुर्मास में कहीं पर सेवा के लिए जाते समय रास्ते में कई गाँवों में आहार-पानी करना पड़ा हो, तथा पड़ोस के

गाँव में साधुओं का बढ़ा हुआ आहार लेना पड़ा हो या निकट गाँव में चातुर्मासस्थित बड़ों ने कभी किसी साधु को आहारादि दे दिया हो, तो ऐसी स्थिति में चातुर्मास बाद रहने में अटकाव जाना नहीं।

१७११ प्र.–क्या स्थिरवास रहने में उम्र का कायदा है ? क्या स्थिरवास का अर्थ मर्यादा से ज्यादा रहना होता है ?

उत्तर–इस जमाने में उम्र के हिसाब से ६० वर्ष वालों को स्थविर (वृद्ध) कहते हैं। बिमारी के कारण कल्प से ज्यादा रहना पड़े तो उसमें उम्र का कोई प्रमाण नहीं समझना। बिमारी के कारण छोटी या बड़ी किसी भी उम्र वाला कल्प से ज्यादा रह सकता है।

१७१२ प्र.–पन्नवणाजी के बीसवें पद में बताया है कि पृथ्वी व अप् से निकले हुए, एक समय में उत्कृष्ट चार, वनस्पति से निकले छः, ज्योतिषी देव के निकले दस व ज्योतिषी देवियों से निकले बीस सिद्ध होते हैं। सिद्धों की अल्पबहुत्व में वनस्पति से निकले कम सिद्ध व पृथ्वीकाय के संख्यात गुणे अधिक सिद्ध, यह कैसे कहा गया है ? साथ ही ज्योतिषी देवियों के निकले कम सिद्ध, व देवों के निकले संख्यात गुणे सिद्ध, यह भी किस प्रकार कहा गया है, जबकि देव से देवियाँ बत्तीस गुणी अधिक है और सिद्ध भी ज्यादा होते हैं। यह अन्तर समझाने की कृपा करें ?

उत्तर–वनस्पति से निकले हुए जीव कभी एक समय में एक से लेकर छह तक सिद्ध होते हैं, परन्तु उनमें से निकले

हुए जीवों को सिद्ध होने का मौका थोड़ी दफे मिलता है। उनसे पृथ्वीकाय में से निकले जीवों को सिद्ध होने का मौका ज्यादा मिलता है। उनसे भी ज्यादा अप्काय के निकले जीवों को। कल्पित उदाहरण से यह बात सुगमता से समझ में आ जाएगी। वनस्पति के निकले जीव छः-छः दो दफे, इतनी ही देर में पृथ्वीकाय के चार-चार जीव छः दफे। अप्काय के निकले बारह दफे सिद्ध हुए। उनकी संख्या इस प्रकार आई–वनस्पति के ६×४ = २४ तथा अप्काय के ४×१२ = ४८ हुए। तथा दूसरा उदाहरण प्रथम के तीन नरक के निकले हुए १ समय में १०–१० सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु २३ बोल में इनके नम्बर २, ३ तथा १५ वां आया है। यदि संख्या के हिसाब से लेते तो बराबर आता, परन्तु कम दफे तथा ज्यादा दफे सिद्ध होने के कारण नंबरों में इतना फरक पड़ता है। इसी प्रकार ज्योतिषियों में भी यही कारण समझ लेना।

१७१३ प्र.–समकित आने के बाद तीर्थंकरों के कितने भव हुए? कोई १३८ कोई १३३ तथा कोई १२८ भव बताते हैं सो कैसे?

उत्तर–भगवान् ऋसभदेव के १३, शान्तिनाथजी के १२, नेमिनाथजी के ९, पार्श्वनाथ भगवान् के १० व महावीर स्वामी के खास-खास बड़े भव २७ एवं इन ५ तीर्थंकरों के १३+१२ +९+१०+२७ = ७१ भव हुए। शेष १९ तीर्थंकरों के ३-३ भव हुए १९×३ = ५७ हुए। कुल मिलाकर ७१+५७ = १२८ भवों का वर्णन त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में बतलाया गया है।

१७१४ प्र.—कितने तीर्थंकरों ने कितनी-कितनी तपस्या करके दीक्षा धारण की ? तथा कितने तीर्थंकरों ने आहार करते दीक्षा धारण की ?

उत्तर—सुमतिनाथ, भगवान् ने नित्यभक्त (आहार करते) वासुपूज्यजी उपवास से, मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ तेले से, शेप २० तीर्थंकरों ने बेले की तपस्या के साथ दीक्षा ली। ऐसा वर्णन समवायांग सूत्र में आया है।

१७१५ प्र.— क्या साधु को मच्छरदानी लगाना शास्त्र सम्मत है ?

उत्तर—निशीथ, बृहत्कल्प आदि में साधु-साध्वी के लिए चिल्मिली बताई है। शब्दार्थ इस प्रकार है—यवनिका, प्रच्छादन-पटी। इसको रखने के कारण पाणदए (प्राणियों की रक्षा) गिलाणे (रोगावस्था) वंभव्वयस्स गुत्ति (ब्रह्मचर्य की रक्षा) आदि कारणों से साधु (गच्छवासी) चिल्मिली रख सकता है, मच्छरदानी नहीं लगा सकता।

१७१६ प्र.—क्या साधु अस्पताल में एक्सरे करवा सकता है ?

उत्तर— साधु को एक्सरे करवाना निषिद्ध है। एक्सरे करवाने से निशीथसूत्रानुसार चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

१७१७ प्र.—उदाई राजा ने पुत्र को राज्य न देते हुए भाणेज को राज्य दिया सो इसका क्या कारण था ?

उत्तर— उदायन नृप ने भगवान् से कहा कि मैं पुत्र अभिचीकुमार को राज्य देकर दीक्षा लूंगा। जब तक वे भगवान् की सेवा में थे, तब तक तो उनके विचार ये थे। बाद में रास्ते

में आते उनके विचार हुए कि अभिचीकुमार मेरे एक पुत्र इष्ट, कान्त आदि है। इसलिए मैं इसको राज्य दूंगा, तो राज के कामकाजों में व कामभोगों में मूच्छित हो कर संसार-सागर से छुटकारा न पा सकेगा, तथा यों ही भव-भ्रमण करेगा। इन विचारों से उसको राज्य न दे कर भाणेज को दिया।

१७१८ प्र.– जब भगवान् ऋषभदेवजी का जन्म हुआ तब मरुदेवी माता की उम्र कितनी थी, तथा जम्बूद्वीपपण्णति में वर्णित ४९, ५९ व ६९ इन अंगों का क्या आशय समझना?

उत्तर– ४९, ५९, ६९ जो अंक आपने लिखे, वे शायद युगल के पोलन के लिए लिखे होंगे। किन्तु युगल पालन के दिन का क्रम पहिले आरे में ४६ दूसरे में ६४ तथा तीसरे के ३/४ भाग तक में ७९ दिन का है। युगल पालने के दिनों का खुलासा तीसरे आरे के ३/४ भाग तक है, आगे नहीं। मरुदेवी माता तो बहुत देरी से हुए थे। भगवान् ऋषभदेव गर्भ में आए, तब मरुदेवी माता की उम्र एक हजार वर्ष कम सत्रह लाख पूर्व की थी।

१७१९ प्र.–निषेध का प्रायश्चित्त किस प्रकार आता है? तथा आपने लिखा कि एवसरा करवाने वाले को निशीथसूत्रानुसार चौमासी प्रायश्चित्त आता है, सो निशीथ में ऐसा वर्णन देखने में नहीं आया?

उत्तर–हम तो इस कृत्रिम बिजली को सचित्त मानते ही हैं, किन्तु पू. आत्मारामजी म. सा. ने बड़ी खोज के बाद बिजली को सचित्त स्वीकार किया है। उनका वह लेख संवत् १९९५ (विक्रमी) के ज्येष्ठ सुद पूनम को प्रकाशित रतलाम के निवेदन

पत्र में छपा है। उसकी कुछ सम्बन्धित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"विद्युत–बिजली जिसका प्रयोग आजकल रोशनी और पंखे चलाने के लिए तथा अन्य कई कामों में हो रहा है। उसके अचित्त या सचित्त होने के सम्बन्ध में जैन समाज में आजकल बड़ा वादविवाद चल रहा है। कोई इसे सचित्त और कोई इसे अचित्त कह रहे हैं। कई वर्ष हुए पंजाब के कतिपय मुनियों ने इस पर विचार किया तो यह निर्णय हुआ कि यह कृत्रिम बिजली अचित्त प्रतीत होती है। उसके अनुसार हमने भी सेठ ज्वालाप्रसादजी के द्वारा प्रकाशित दशवैकालिक सूत्र के अपने अनुवादों में ऐसा ही लिख दिया था। पश्चात् जब बिजली-घरों में जाकर पुनः बड़ी खोज के साथ अन्वेषण किया गया तो यह निश्चित हुआ कि बिजली सचित्त है, अचित्त नहीं।"

लेख की उपरोक्त पंक्तियों से बिजली का सचित्त (तेउ-काय) होना सिद्ध होता है। एक्सरे या रेडियो में बिजली या बेट्री का प्रयोग चालू रहता है, अतः तेउकाय की विराधना होती है।

थोड़ी-सी भी तेउकाय की विराधना करने, कराने व अनु-मोदन करने वाले साधु-साध्वी को चौमासी प्रायश्चित्त निशीथ के बारहवें उद्देशक में बताया है। शास्त्रकार ने तो तेउकाय की विराधना का शामिल ही प्रायश्चित्त बता दिया है। वह विराधना चाहे एक्सरे से हो या रेडियो से या भिक्षा आदि किसी भी कार्य से हो। भिन्न-भिन्न नाम तो शास्त्रकार कहाँ तक बतावें।

लाचारी, हास्य, घमण्ड, धृष्टतादि के वश किया हुआ कार्य देख कर, आलोचना सुन कर, सुनने वाला (कर्त्ता के विचार पर से) मंद, तेज प्रायश्चित्त दे सकता है।

सैकड़ों निषिद्ध कार्यों का प्रायश्चित्त निशीथ सूत्र में बतलाया है, सो निशीथ सूत्र देखने से भलीभांति मालुम हो सकता है।

१७२० प्र.—स्थानांग ठाणा ४ उ. १ में मरुदेवी माता के मोक्ष जाने का उल्लेख तो है, लेकिन उनके आयुष्य के विषय में शास्त्रीय उल्लेख कहाँ है? तथा आपने फ़रमाया कि भगवान् के जन्म के समय १ हजार वर्ष कम १७ लाख पूर्व की आयु थी सो प्रमाणित कीजियेगा।

उत्तर—एक प्राचीन भजन में "क्रोड़ पूरव लग पावी साता मोरादेवी माताजी," इस प्रकार बताया है तथा सूक्ष्म छत्तीसी में भी क्रोड़ पूर्व का आयुष्य बताया है। ज्यादा वर्णन टीका व ग्रंथों में होगा। विचार करने पर क्रोड़ पूर्व की आयु की बात शास्त्रों से मेल खाती है। क्रोड़ पूर्व से अधिक आयुष्य वाले जो मनुष्य व तिर्यंच होते हैं, वे युगलिए ही होते हैं। तथा मर कर देवगति में ही जाते हैं। नाभिराजा की उम्र क्रोड़ पूर्व से कुछ (पाव-आधी घड़ी आदि) ज्यादा थी, तथा मरुदेवी की क्रोड़ पूर्व की थी। यदि इससे विशेष कम होती तो नाभिजी को पत्नी वियोग सहना पड़ता। पाव-आधी घड़ी में तो वंदनार्थ गए होने से कुछ दूरी के कारण कोई पता भी नहीं लगता। तथा क्रोड़ पूर्व से ज्यादा उम्र होती, तो मोक्ष में नहीं जा सकते

थे। इन सब बातों से आयुष्य क्रोड़ पूर्व का था।

१७२१ प्र.–आजकल व्याख्यान में "खमा! खमा!! तहत्त, धन्यवाणी" आदि बोलते हैं, सो क्या आगमादि में ऐसा उल्लेख है? अथवा नयी परिपाटी समझना?

उत्तर–प्रभुवाणी के रसिक शास्त्र-वाणी का आदर करते हुए 'तहत्ति तहक्कार' (तथाकार)तथास्तु आदि २ शब्दों का प्रयोग करते थे। यह विधि प्राचीन है, तथा उववाइ सूत्र में इसका वर्णन भी हैं।

१७२२ प्र.–क्या भगवान् मांगलिक फरमाते थे। यदि नहीं तो यह परिपाटी कब से प्रारंभ हुई?

उत्तर–मांगलिक सुनाने का शास्त्रीय उल्लेख तो देखने में नहीं आया, पर साधु-सेवा का फल धर्म प्रवचन सुनने से लेकर सिद्धि पर्यंत बताया गया है। उसमें पहला ही फल धर्म सुनने का आया है। यदि साधु और श्रावक के विशेष सुनने-सुनाने का मौका न भी हो, तो उसका सारगर्भित मंगल रूप थोड़े शब्द भी सुना देवे, जिससे उसको प्रभुवाणी सुनने का महालाभ मिले। अतः यह प्रथा आगम अनुकूल है।

१७२३ प्र.–सुविधिनाथजी को 'पुष्पदंत' क्यों कहते हैं?

उत्तर–सुविधिनाथजी का दूसरा नाम पुष्पदंत सूत्र में (लोगस्स की पाटी में–सुविहिं च पुप्फदंत......) आया है। सफेद फूलों की कलि के समान उनके दांत सुंदर एवं श्वेत थे, अतः उनका नाम पुष्पदंत कहा है।

१७२४ प्र.–सुबाहुकुमार के केश मुण्डन करते समय नाई

ने मुंह पर कपड़ा बांधा सो इसका क्या कारण समझना?

उत्तर—राजकुमार आदि बड़े घरों के लोगों का जीवन प्रायः आराम सामग्री में वृद्धि पाया हुआ होता है। उनको थोड़ीसी भी खराब गंध अनिष्ट लगती है। अतः नाई आदि लोग उन के सम्पर्क में बड़ी सावधानी वरतते हैं। हजामत करते समय नाई को सामने बैठना पड़ता है। अतः उनके मुख-नाक की खराब हवा उन राजकुमारादि को अप्रिय न लगे। अतः उसने मुंह पर कपड़ा बांधा।

१७२५ प्र.—जब सुबाहुकुमार ने दीक्षा की आज्ञा मांगी तब उनकी माता अचेत हुई, बाद में सचेत हुई। उस अचेत अवस्था में सचेतावस्था की अपेक्षा ज्यादा सुख माना, इसका क्या कारण था?

उत्तर—सचेत अवस्था में तो पुत्र-वियोग के दुःख का अनुभव हो रहा था। परन्तु अचेत अवस्था में उसे पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। अतः यह अवस्था सुखदायी प्रतीत हुई। जैसे कि कोई पुत्र-वियोग आदि के कारण यह विचार करता है कि इससे तो जन्म ही नहीं होता, तो अच्छा रहता।

१७२६ प्र.— जब सुबाहुकुमार दीक्षा के लिए रवाना हुए तो आजू-बाजू चमर डुलाने वाली तरुणियां क्यों थी? क्या संयमार्थी के लिए यह उचित कहा जा सकता है?

उत्तर— दीक्षा के समय आजू-बाजू जो तरुणियां थी, वे संभवतः उनकी भार्याएँ थी। वे अपना कर्त्तव्य (नेग) बजा रही थी। वैराग्य की दृष्टि से तो पुरुषों का रहना अच्छा था, किन्तु

स्त्रियाँ अपना कर्त्तव्य छोड़ना नहीं चाहती थी, तथा वे भी इतने मात्र के लिए उनका उत्साह भंग नहीं करना चाहते थे।

१७२७ प्र.–सुबाहुकुमार का संथारा सीझने पर साधुओं ने आकर भगवान् को खबर दी, तब संथारे वालों ने भगवान् या गणधरों के पास ही संथारा क्यों नहीं किया, जब कि भगवान् या गणधरादि साधुओं के पास संथारा करने से शान्ति की प्राप्ति ज्यादा हो सकती थी ?

उत्तर–भगवान् तथा गणधरों के पास अनेक लोगों का आना-जाना तथा वाचना-पृच्छना आदि का कार्य चलता रहता था। इसलिए वहाँ संथारे वालों को अपने परिणामों की धारा को उन्नत बनाना कठिन होता था। परिणामों की धारा उन्नत बनाने के लिए एकान्त स्थान की आवश्यकता रहती है। इसी-लिए वे एकान्त में संथारे के लिए गए थे।

१७२८ प्र.–आठम, चवदस को लिलोती आदि का त्याग हो तथा कभी ये तिथियाँ बढ़ जाय, तो सोगंध किस तिथि का मानना योग्य है ?

उत्तर–तिथि-वृद्धि होने पर दोनों तिथि को पाले तो बहुत ही उत्तम है। नहीं तो पहली तिथि तो अवश्य ही पालना चाहिए। इस प्रकार पालने का रिवाज प्रायः चालू भी है।

१७२९ प्र.–कुछ भाई ऐसा प्रश्न करते हैं कि तुम्हारा मत (स्थानकवासी) तो लोंकाशाह से प्रारम्भ हुआ, पहले नहीं था, सो इसका प्रत्युत्तर क्या है ?

उत्तर–वीर निर्वाण के कई वर्षों बाद १२ वर्षों का भयं-

कर दुष्काल पड़ा था। उस समय साधुओं को शुद्ध भिक्षा मिलना कठिन हो गया था। इस कारण से साधु समाज में शिथिलता आ गई, तथा वह बढ़ती गई। उस शिथिलता को मिटाने के लिए लोंकाशाह ने भगवान् के मार्ग को शास्त्रानुसार शुद्ध रूप बताया। अतः वे शुद्ध धर्म के उद्धारक थे, किंतु उन्होंने कोई नयीं समाज नहीं बनाई। अतः लोंकाशाह से ही यह मार्ग चला हो, सो बात नहीं है। शुद्ध दृष्टि से देखने से शुद्ध (निरवद्य) मान्यता व मार्ग तो यही है।

१७३० प्र.–दक्षिण की हवा तो अच्छी लगती है, फिर इसे बुरा व निकृष्ट क्यों बताया है ?

उत्तर–उत्तर-दिशा की ओर महाविदेह क्षेत्र होने से सदा तीर्थंकर भगवान् विराजते हैं। तथा पूर्व-दिशा से सूर्योदय होता है। सूर्य के परमाणु शुभ होते हैं। अतः शेष दिशाओं की अपेक्षा इन दिशाओं को शुभ माना गया है। दक्षिण की हवा, आदि अनुकूल लगना, यह बात अलग है।

१७३१ प्र.–तीर्थंकरों के साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका की गणना तो लेखे में आई हुई है। जब आज के साधु-साध्वी श्रावकादि की गणना की परवाह नहीं करते है, तो तीर्थंकरों को क्या परवाह थी ?

उत्तर– आज के अधिकांश साधु-साध्वियों को तो अपने-अपने श्रावक-श्राविकाओं की संख्या जानने की लालसा विशेष रहती है। किन्तु तीर्थंकर तो वीतराग होते हैं, वे इसकी किंचित् भी लालसा नहीं रखते। वे तो ज्ञान-बल से धर्मानु-

रागियों की जितनी संख्या देखते हैं, उतनी दूसरों में धर्म-जागृति होने की दृष्टि से बता देते हैं। आज के साधुओं के पास वैसा ज्ञान-बल न होने से इच्छा रहते हुए भी बता नहीं सकते हैं।

१७३२ प्र.– कहीं-कहीं साधुओं को 'भगवान्' कहा है, सो किस कारण से ?

उत्तर– 'भगवान्' शब्द के अनेक अर्थ है। सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र युक्त भयमुक्त आदि गुणों के कारण साधुओं को शास्त्र में भगवान् कहा है।

१७३३ प्र.– पूजना, नमन करना व वंदना, इन शब्दों के अर्थ में क्या अन्तर है ? या इन्हें एकार्थवाचक समझना ?

उत्तर–वंदना का अर्थ स्तुति करना। नमन का अर्थ है–मस्तकादि झुका कर प्रणाम करना। पूजा का अर्थ है–पूजनीय पुरुषों को नमस्कार करके उनके योग्य वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करना व देना।

१७३४ प्र.–क्या उपवास का अर्थ भूखा रहना ही है ?

उत्तर–दोषों से निवृत होकर आहार-त्याग, शरीर विभूषा त्याग आदि गुणों के साथ निवास करना 'उपवास' कहलाता है। नीचे के श्लोकों में यही बात स्पष्ट की गई है–

> उपावृतस्य दोषेभ्यः, सम्यग्वासो गुणैः सह ।
> उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणम् ॥१॥
> उपावृतस्य पापेभ्योः, यश्च वासो गुणैः सह ।
> उपवासः स विज्ञेय, सर्वभोगविवर्जित ॥२॥

१७३५ प्र.–स्थानांग में चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार मोक्ष गए, ऐसा उल्लेख है। आवश्यक निर्युक्ति में तीजे देवलोक गए, यह कैसे ?

उत्तर–तीसरे चक्रवर्ती मघवा व चौथे सनत्कुमार को ग्रंथ, टीका, कथाकार तीसरे देवलोक में गए बताते हैं। किन्तु मूलपाठ से यह बात मेल नहीं खाती है। क्योंकि स्थानांग के दूसरे ठाणे में संभूम व ब्रह्मदत्त इन २ चक्रवर्तियों की नरक-गति बताई है। यदि दो चक्रवर्ती स्वर्ग में गए होते तो बता देते, किन्तु बताए नहीं। चौथे ठाणे में सनत्कुमार मोक्ष में गए बतलाया है। अतः देवलोक जाने का कथन आगमों से मेल नहीं खाता। चक्रवर्ती देवलोक में जा सकते हैं, यह बात तो सिद्धान्त सम्मत है, किन्तु इस अवसर्पिणी के दस चक्रवर्ती मोक्ष में गए तथा दो नर्क में ×।

१७३६ प्र.–आवश्यक निर्युक्ति में मल्लिनाथ भगवान् के केवल व दीक्षा ये दो कल्याणक मिगसर सुद ग्यारस के बताए हैं, जबकि ज्ञाता अ० ८ में पोष सुदी ११ को ? सो सही क्या है ?

उत्तर–मल्लिनाथ भगवान् के दो कल्याणक पोष सुदी ग्यारस को हुए, यह ज्ञाता सूत्र का कथन ठीक है।

× अंनत चौवीसी में यही बात आचार्य श्री जयमल्लजी म. सा. ने इस प्रकार फरमाई है–

वली दसे चक्रवर्ती, राज्य रमणी ऋद्धि छोड़।
दसे मुगति पहुंच्या, कुल ने शोभा चहोड़॥ १६॥

१७३७ प्र.–आवश्यक निर्युक्ति मे ऐसा है कि साधु पंचक में काल करे, तो पाँच पुतले कर के साधु के साथ जलाना। क्या यह ठीक है ?

उत्तर–पुतले जलाना आदि रूप से जो भाषा है, उसे साधुपणे की नहीं समझना, फिर वह सिद्धान्त के अनुकूल हो ही कैसे सकती है। अतः यह कथन सिद्धान्त विरुद्ध है।

१७३८ प्र.–एक भव में एक जीव के उत्कृष्ट प्रत्येक लाख (नवलाख) पुत्र हो सकते हैं, ऐसा जो भगवती सूत्र में कहा है, सो ठीक है क्या ? जब कि प्रकरण में भरतजी के सवा करोड़ पुत्र कहे हैं ?

उत्तर–एक भव में एक जीव के प्रत्येक लाख पुत्र हो सकते हैं ऐसा भगवतीजी का कथन प्रामाणिक है। सवा करोड़ आदि की बात शास्त्रों से नही मिलती है। भरतजी के राणियाँ अनेक होते हुए भी भरतजी खुद तो एक ही थे। अतः अधिक पुत्र होना कैसे माना जाय।

१७३९ प्र.–टीका प्रकरण में धर्म-वृद्धि हेतु, चक्रवर्ती का कटक (सेना) चूर्ण करदे, तथा लब्धि फोड़े ऐसा लिखा है। क्या यह ठीक है ?

उत्तर–लब्धि के द्वारा किसी को तकलीफ पहुँचाना या घात करना, यह भगवान् की आज्ञा के अनुकूल नहीं है। अतः शास्त्र में इसका प्रायश्चित्त बताया है। इसलिए यह कथन शास्त्र से मेल नहीं खाता है।

१७४० प्र.–प्रज्ञापना, भगवती आदि में पांच स्थावर काय

को प्रथम गुणस्थान में तथा मिथ्यात्वी माना है, जब कि कर्मग्रंथ में प्रथम के दो गुणस्थान माने हैं। यह विरोधाभास कैसे?

उत्तर-पाँच स्थावरकाय को एकान्त मिथ्यादृष्टि बताया, वह ठीक है। शास्त्रकारों की बात खास प्रामाणिक मानी जाती है। स्थावर में दो गुणस्थान कर्मग्रंथ में बताए हैं, किन्तु उन्होंने भी ज्ञान न बताकर सिर्फ दो अज्ञान ही बताए हैं। तथा कर्मग्रंथकार दूसरे गुणस्थान में ज्ञान नहीं मानते हैं।

१७४१ प्र.-गुप्ति उत्सर्गमार्ग तथा समिति अपवाद मार्ग है। क्या यह मान्यता ठीक है?

उत्तर- वृद्ध-परम्परा से तो ऐसा ही कहने में आता है कि गुप्ति उत्सर्गमार्ग व समिति अपवादमार्ग है। इस बात की पुष्टि उत्तराध्ययन अध्ययन १ गाथा ३० के अप्पुट्ठाई, निरुट्ठाई इन दो शब्दों से होती है। निरुट्ठाई शब्द काया की गुप्ति, काया के व्यापार को रोकना बतलाता है। अप्पुट्ठाई शब्द काया की समिति को बतलाता है।

सम्यक् प्रवृति यानि सम्यक् प्रवर्तन को 'समिति' कहते हैं। टीका में ऐसा अर्थ मिलता है। प्रश्नव्याकरण प्रथम संवरद्वार तथा उत्तरा. अ. २४ में लिखा है। इससे प्रवृत्ति मार्ग सिद्ध होता है। गुप्ति का अर्थ लिया है कि-"गोपनं गुप्ति आगुन्तक कच-वर निरोधः।" इससे तो निवृत्ति (उत्सर्ग मार्ग) सिद्ध होता है। किंतु गुप्ति का दूसरा अर्थ ऐसा भी लिखा है कि-"गोपनं गुप्तिर्मनप्रभृतीनांकुशलानां प्रवृतनम् अकुशलानां च निवृतनम्।" इससे प्रवृत्ति अर्थ भी निकलता है। स्थानांग ८ में आठ समिति

भी बतलाई है। उससे यह अर्थ मेल खाता है अर्थात् मन, वचन, काया को भी समिति में लिया है। अतः सुज्ञजन समझ लेंवे*।

१७४२ प्र.— कठिन समय में प्रतिसेवना की जाय उसे अपवाद कहें, तो समिति को भी प्रतिसेवना मानना पड़ेगा—यह कैसे संगत होगा?

उत्तर— मुनि का लक्ष्य निवृत्ति-प्रधान होता है। किन्तु वह स्थिति क्रमानुसार (दर्जे-बदर्जे) प्राप्त होती है। जिस मुनि के हलन-चलन भिक्षादि के बिना संयम का कार्य बराबर चलता रहे, उसके उतने समय तक या पादोपगमन संथारा करे तो

---

* उत्सर्ग और अपवाद विषयक कुछ स्पष्ट किया जाता है;—

उत्सर्ग का अर्थ है—निवृत्ति, त्यागना, छोड़ना, न्योछावर हो जाना। अपवाद है—उत्सर्ग के विपरीत, उलट मार्ग। त्यागे हुए का सेवन, विकट स्थिति में खिन्नता पूर्वक धर्म के विपरीत आचरण।

उत्सर्ग-अपवाद की विचारणा दो प्रकार से की गई है;—

१ निवृत्ति—प्रवृत्ति के त्याग रूप मन वचन और काया की गुप्ति—उत्सर्ग मार्ग है। साधक का लक्ष्य भी अयोगी, अशरीरी, अनाहारक बनने का है। परंतु साधक का दीर्घ-जीवन बिना प्रवृत्ति के चल नहीं सकता, साधना भी नहीं हो सकती। इसलिये समितिपूर्वक प्रवृत्ति को अनुमति दी गई। यह गुप्ति के विपरीत होने के कारण अपवाद स्वरूप है, परंतु पाप रूप नहीं है।

२ अशुभ-प्रवृत्ति, मर्यादा का उलंघन, अनावश्यक प्रवृत्ति और निषिद्धाचरण का त्याग तथा शुद्ध चारित्र का पालन रूप उत्सर्ग मार्ग और विकट स्थिति में खिन्नतापूर्वक अशुभ सेवन—अपवाद मार्ग है। इसमें लगे हुए दोष की शुद्धि करनी आवश्यक होती है—होती

जीवन पर्यंत गुप्ति से ही कार्य चल जाता है और समिति की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसलिए इस तरह से समिति को, (गुप्ति से निर्वाह न हो सकता हो उस दशा में) अपवाद में लिया जा सकता है। किन्तु यहां प्रतिसेवना को समिति का अर्थ नहीं समझना चाहिए। यहां पर अपवाद सिर्फ सम्यक् प्रवृति रूप है, किन्तु प्रतिसेवना रूप नहीं। अतः गुप्ति और समिति को उत्सर्ग-अपवाद रूप दिया जाय, तो उपरोक्त अर्थ संगत लगता है। अन्यथा सम्यक् प्रवृति को समिति तथा प्रवृति निरोध को गुप्ति कहना संगत होगा। यह अर्थ स्थानांग स्थान ८ में बताई हुई ८ समितियों तथा दशाश्रुतस्कंध सूत्र की ४ वीं दशा में बताई ८ समितियां तथा तीन गुप्तियों से मेल खाता है। इस अर्थ से कोई बाधा भी दिखाई नहीं देती है।

[प्रिय पाठकवृंद ! रजिस्टर नम्बर ४ के प्रश्नोत्तर प्रायः समाप्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष प्रश्नोत्तर हैं, जिनका प्रकाशन सम्यग्दर्शन वर्ष २१ अंक ५ (५ मार्च ७०) से शुरू होकर लगातार अंकों में हुआ था। प्रारम्भ में ही श्रीयुत डोशीजी सा. ने सम्पादकीय फुटनोट में लिखा था कि इनका प्रकाशन समर्थ-समाधान भाग ३ में होगा। तदनुसार वह सामग्री आपकी सेवा में प्रस्तुत की जाती है।

यह प्रश्नोत्तर सम्यग्दर्शन से ही लिए जा रहे हैं, कारण कि रजिस्टर में भाषा एवं व्याकरण विषयक त्रुटियों का अभाव नहीं है तथा यह माला अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसलिए समर्थ-समाधान भाग इसे लिए बिना कैसे रह सकता है ?—सम्पादक

कवि विचार श्रमण-श्रेष्ठ की कसौटी पर

(दस वर्ष पूर्व पं. मु. श्री पारसकुमारजी म. सा. ने जो

से श्रीकेसरीचन्दजी मूलचन्दजी पारख द्वारा पूज्य बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ १००८ श्री पं० रत्न श्री समर्थमलजी म. सा. की सेवा में पुछाए प्रश्न। प्रश्नों के साथ पत्र भी प्रस्तुत किया जाता है। ये प्रश्न उपाध्याय कविश्रीजी अमरचंद्रजी म. सा. से भी पूछे गए थे, परन्तु शायद प्रत्युत्तर नहीं मिला)

१७४३ प्र.—पत्र—इस पत्र में जो ११ प्रश्नों की पृच्छा की गई है, वे कविश्रीजी के द्वारा संपादित निशीथ सूत्र से संबंधित है। उन्होंने भाग १ के संपादकीय तथा भाग ३ में "उत्सर्ग और अपवाद मार्ग" लिखा है। उन्हीं दोनों लेखों में से आवश्यक उद्धरण देकर प्रश्न किए हैं। प्रश्न केवल जिज्ञासा की दृष्टि से ही नहीं पूछे गए हैं, परन्तु इनके पीछे एक विशेष उद्देश्य भी है।

प्रश्नों को देखने के पूर्व कुछ स्पष्ट हो जाना आवश्यक है। जहाँ तक हमारी धारणा है—सम्पादक उपाध्यायश्री उस चतुर पतंग के खिलाड़ी के समान हैं जो पतंग को वार-वार ढील देता जाता है, साथ ही साथ कभी-कभी खींच भी लेता है। अन्ततोगत्वा ढील ही अधिक रहती है। इसी प्रकार उपाध्याय श्री के वस्तु निरूपण में स्थानकवासी जैन मान्यताओं को शिथिल करने वाली एवं हानि पहुँचाने वाली वातें स्थान-स्थान पर हैं, परन्तु साथ ही कहीं कहीं टिकाने एवं दृढ़ करने वाली भी। परिणाम हम यह देखते हैं कि ऐसे वस्तु-निरूपण से मान्यताओं के दुर्वल होने और ढहने में सहायता मिल रही है। इसका एक उदाहरण देखिए—

आज तक किसी प्रश्न का हल करने के लिए शास्त्रों को प्रमाण माना जाता है। शास्त्र का कोई निर्णय, तर्क या बुद्धि में उतरता है या नहीं, इसकी परवाह नहीं की जाती है, तथा शास्त्र के निर्णय को शिरोधार्य कर लिया जाता है† । शास्त्र-प्रमाण से बढ़ कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं है * । किन्तु उपाध्याय श्री ने शास्त्र से भी ऊपर, मनुष्य के अनुभव को बड़ा प्रमाण मानते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "अहिंसा दर्शन" पृ. ३७९ (प्रथम संस्करण) पंक्ति ८ से २० पर लिखा है कि--

"मैं कहूँगा कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अंतःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण है । सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अनुभव ही है । यथा तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रंथ शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को

---

† मिथ्यात्व मोहनीय से वीतराग प्रणीत तत्त्व श्रद्धान पर रुचि नहीं होती । मिश्र से रुचि अरुचि दोनों तथा समकित मोहनीय से सूक्ष्म तत्त्व पर देश से शंका रह जाती है । समझना, न समझना बुद्धि के क्षयोपशम पर है । (स. स. भाग ३ से संकलित)

* देखिए सूत्रकृतांग अ. २ उद्देशा ३ की ११ वीं गाथाः—

अदक्खुव दक्खुवाहियं (तं) सद्दहसु अदक्खु दंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्ध दंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥

अर्थ—हे अंध के समान पुरुष ! ऐ अदृश्य को देखने वालों ! जिन्होंने (सर्वज्ञों ने) जो है वही देखा है, उनपर श्रद्धा करो । अपनी आसक्ति से ग्रहण किए हुए कर्म से दर्शन-शक्ति रुक जाती है । बन्द हो जाती है । यानि तत्त्व को जानकर उस पर प्रतीति करने की शक्ति आवृत हो जाती है यह समझो ।

खोजते हैं ? नहीं । क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह सर्चलाइट है, जिसके आगे सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं । उन्हें किसी ग्रंथ या पोथे टटोलने की जरूरत नहीं होती । इसी प्रकार जिसके पास विवेक बुद्धि है, उसे कहीं भी भटकने की जरूरत नहीं है । उसकी दृष्टि यदि सम्यक् है तथा सत्य के प्रति निष्ठा गहरी है, तो वह स्वयं भी किसी चीज के औचित्य का निर्णय कर सकता है । मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि केवलज्ञान से पहला नम्बर आत्मा के सहज विवेक का है, क्योंकि वही सबसे पहले जाग्रत होता है और आत्मा को प्रकाश देता है ।"

इस उद्धरण में बहुत कुछ बचाते हुए उपाध्यायश्री ने शास्त्रों से कहीं ऊपर विवेक-बुद्धि को स्वीकार किया है ।

अब देखिए इसी ग्रंथ के पृ. ४३१ पंक्ति १--६ में लिखा है कि--

"जिस प्रकार लाठी अंधे का अवलम्बन है, उसी प्रकार शास्त्र हमारा अवलंबन है । अतएव हम जो भी करें और समझें, वह शास्त्र के आधार पर ही होना चाहिए । जहाँ शास्त्र कोई स्पष्ट मार्ग निर्देश न करता हो, वहाँ उसके प्रकाश में अपने विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए । इस प्रकार हमारा जो भी विचार हो, शास्त्र से अलग न हो । आपका क्या विचार है, मेरा क्या विचार है, या अमुक व्यक्ति का क्या कहना है, शास्त्रों के समक्ष इसका कोई मूल्य नहीं है ।"

यहाँ कितनी खूबी से बुद्धि एवं तर्क के ऊपर शास्त्र को आसीन कर दिया है ।

हाँ, तो कहना यह है, कि निशीथ चूर्णि के दोनों लेखों में से जिस प्रकार पहले उद्धरण के विरुद्ध 'अहिंसा दर्शन' में दूसरा उद्धरण भी प्राप्त है, वैसे हमारे उद्धरणों के विरुद्ध भी आपको उद्धरण प्राप्त हो सकते हैं। हम स्वयं एक ऐसा उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

इस पत्र में पूछे हुए प्रश्न ७ (ख) में दर्शन-प्रभावना के हित दर्शन-प्रभावक ग्रंथों के अध्ययन में यदि अकल्पनीय आहार आदि का उपयोग करना पड़े, तो वह शुद्ध अर्थात् प्रायश्चित्त का कारण नहीं। ऐसा प्रचार किया है। इसके ठीक विरुद्ध भाग १ पृ. २ पंक्ति ४-१० में लिखा है— "साधक के कभी-कभी क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है, इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाता, कभी-कभी कर्मोदय के प्राबल्य से जानता हुआ भी मर्यादाहीन आचरण से अपने परांमुख (हटा) नहीं सकता, कभी-कभी धर्म एवं संघ की रक्षा के प्रश्न भी शास्त्रीय विधि-निषेध की सीमा को लांघ जाने के लिए विवश कर देते हैं, ऐसी कुछ स्थितियां हैं, जिनमें उलझने पर साधक को पुनः संभलने के लिए कुछ प्रकाश चाहिए। यह प्रकाश छेद सूत्रों से ही मिल सकता है। छेद का अर्थ है जीवन में से असंयम के अंश को काट कर निकाल देना। साधना में से दोषजन्य अशुद्धता के मल को धो कर साफ कर देना।"

तात्पर्य यह है कि उपाध्याय श्री के निरूपण में प्रतिकूल बातों में अनुकूल बातें भी मिलती है, परन्तु अनुकूल बातों से प्रतिकूल बातों का लिखा जाना निर्दोष नहीं हो जाता। अत-

एव उन्होंने "इस जगह ऐसा भी लिखा है," ऐसे उत्तर की आकांक्षा नहीं रखते। हम तो यह समाधान चाहते हैं कि सिद्धी-कारक बातों के साथ ऐसी-ऐसी बातें जो लिखी गई है, वे क्या उचित हैं? दस प्रश्न आप देखेगें ही। ग्यारहवां प्रश्न यह है कि हमने भूमिका में 'अहिंसा दर्शन' का प्रथम उद्धरण दिया है, सो इसका भावार्थ आप वैसा ही स्वीकार करते हैं, जैसा हमने किया है? यदि उत्तर 'हां' में है, तो आपकी दृष्टि में यह भूल कैसी है? यदि नही, तो इसका सही भावार्थ किस प्रकार समझा जाय? इसके लिए अनुग्रह करके प्रमाणादि सहित सिद्धी प्रदान करें।

१७४३ प्रश्न का उत्तर–प्रश्नों की पूर्वभूमिका के रूप में जो पहला प्रश्न है, उसका उत्तर संक्षेप में 'हाँ' में है। यानि जो भाव आपने समझे, वे ठीक हैं। मेरी दृष्टि में यह भूल गंभीर, अक्षम्य, अनुपेक्षणीय है। क्योंकि विवेक की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए तीर्थंकर भगवान् का जो उदाहरण दिया, वह सामान्य जनता को भ्रम में डालने वाला है। क्योंकि तीर्थंकर तो पूर्वभव से ही तीन ज्ञान लेकर गर्भ में आते हैं, तथा दीक्षा उच्चारण करते ही चौथा मन पर्यवज्ञान हो जाता है। वे स्वंयबुद्ध आगमविहारी होते हैं। अतः उनको श्रुतान्वेषण की आवश्यकता नही है। पूर्व-भव में तो श्रुतभक्ति बहुश्रुत वत्सलता आदि उन्होंने भी किया है, जो कि तीर्थंकर गोत्रो-पार्जन के २० बोलों से स्पष्ट है। क्या उनकी तरह सामान्य जनता को भी श्रुत (आगम) के अवलम्बन की आवश्यकता

नहीं है ? फिर तो जो जैसा विचार करेगा उसके लिए वही आगम हो जाएगा ? फिर तो कोई भी मिथ्या-श्रुत नहीं रहेगा। किन्तु, नंदीसूत्र आदि में अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वछंदमति कल्पित अनेक मिथ्याश्रुत बतलाए गए हैं। निर्ग्रंथ के लिए तो यह निर्देश है कि–"निग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ," किन्तु स्वमति एवं स्व-विवेक से विचरना नहीं कहा है। साधुओं के तीन मनोरथों में से पहला मनोरथ यह है कि "कब मैं श्रुतज्ञान सीख पाउंगा।" साधुओं का तो कहना ही क्या, किन्तु आत्मार्थी श्रावक भी ऐसा समझते हैं कि–"अयमाउसो ! निग्गंथं पावयणं अयं अट्ठे, अयं परमट्ठे," परन्तु वे निजी उद्भूत विचारों को ऐसा नहीं मानते थे।

इसलिए साधारण जनता के लिए तो निर्ग्रंथ-प्रवचन रूप आगम ही आधारभूत है। आगम-विहारी की स्थिति प्राप्त होने पर फिर श्रुत की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि वे उन आगमों से ऊपर बढ़ गए हैं। इसी भूमिका में उनका जो यह कथन है कि–"केवलज्ञान से भी पहला नम्बर आत्मा के सहज विवेक का है," यह कथन भी आगम-व्यवहारियों के लिए ही है। सर्व साधारण के लिए ऐसा वाक्य लिखना अयुक्त है। उन्हें तो आगम के सहारे की आवश्यकता रहती ही है। आगम के सहारे ही उनका जीवन सन्मार्गानुसारी रह सकता है। अतः उनका यह लिखना शास्त्रों पर से श्रद्धा उतारने वाला है।

१७४४ प्रश्न २–"श्री भद्रबाहु स्वामी आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए साधक थे। ओघनिर्युक्ति, उनकी

रचनाओं में से एक है। स्थानकवासी जैन-परंपरा एवं उसके स्थापकों ने इस ग्रंथ को प्रमाण रूप से स्वीकार नहीं किया। क्या यह एक भूल नहीं है? क्या यह आवश्यक नहीं कि स्थानकवासी समाज के अग्रणी इस भूल को शीघ्र सुधार लें?"

अपनी बात की सिद्धि के लिए ओघनिर्युक्ति का उल्लेख देकर उसकी महत्ता एवं प्रामाणिकता बताते हुए भाग ३ पृ. १५ लाइन १४-१५ में लिखा है- "यह वाणी आज के किसी भौतिकवादी की नहीं है, अपितु सुदूर युग के उस महान् आध्यात्मवादी की है जो आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ साधक था+।

उत्तर-"ओघ निर्युक्ति" के रचयिता श्रीभद्रबाहुस्वामी को 'आध्यात्मिकता की चरम सीमा पर पहुंचे हुए कहने में विचार पड़ता है, क्योंकि चारित्र की अपेक्षा तो उस समय सामायिक और छेदोपस्थानीय, ये दो ही चारित्र थे, शेष तीन का विच्छेद था। गुणस्थान की अपेक्षा सातवें गुणस्थान से आगे नहीं थे। उपशम व क्षपक दोनों श्रेणियाँ बंद थी। ज्ञान की अपेक्षा उस समय मनःपर्यव व केवल तो थे नहीं, अवधि में परम अवधि का विच्छेद था। श्रुतज्ञान में भी सम्पूर्ण दृष्टिवाद के ज्ञाता व सर्वाक्षर सन्निपाती नहीं थे। समकित की अपेक्षा आयु बंध के पूर्व क्षायिक-समकिती थे ही नहीं। आयु-बंध के पश्चात् भी

+यह तो कविजी की चटकिली-मटकिली, रिमझिम, ठुमकती हुई सौंदर्यमयी, साहित्यिक शैली की अभिव्यक्ति का कौशल है, इसमें वास्तविकता खोजने में बहुधा असफल होना पड़ता है—डोशीजी।

उन्हें क्षायिक-समकित प्राप्त हुई हो--ऐसा निर्णय यहाँ वाला तो कोई कर ही नहीं सकता। इत्यादि बातों का विचार करने से यह तो कहा ही कैसे जा सकता है कि वे आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए साधक थे। छद्मस्थता की चरम सीमा भी केवलज्ञान के पूर्व क्षण तक होती है और वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी।

निर्युक्ति आदि जो भी हो, परन्तु उनमें की जो बात गणधर कृत सूत्रों से विपरीत नहीं जाती हो, वह तो मान्य है और उनसे जो विपरीत हो, वह मान्य नहीं है। श्री भद्रबाहुस्वामी १४ पूर्वधर थे। यदि ओघनिर्युक्ति उनकी बनाई होती, तो गणधरकृत सूत्रों से विपरीत बातें उसमें नहीं होती, परन्तु उनके नाम से प्रसिद्ध किए गए ग्रंथों में गणधर-कृत सूत्रों से विपरीत बातें दिखाई देती हैं। इससे यह विचार होता है कि या तो उनके नाम से किसी अन्य ने बनाए हों, या उनके बनाए हुए में प्रक्षिप्त किया हो। ऐसी दशा में पूर्वाचार्यों ने उन्हें मान्य नहीं किया, तो यह भूल कैसे कही जा सकती है?

ऐसी दशा में भूल नहीं होते हुए भी भूल बताना, उसे सुधारने के लिए कहना और उस समाज को ही स्थापित बताना, क्या यह उस समाज के साथ, जिसमें कि वे स्वयं बैठे हुए हैं, विद्रोह नहीं है? श्वे. मू. पू. आचार्य पार्श्वचंद्रजी आदि ने भी निर्युक्ति की कई बातों को स्वीकार नहीं किया है। क्या मूर्तिपूजक, क्या स्थानकवासी, कोई भी हो, तटस्थ वृत्ति वाले व्यक्ति को गणधर-कृत सूत्रों से विपरीत बात मान्य नहीं होती।

अतः स्थानकवासी समाज पर यह लांछन लगाना अनुचित है।

१७४५ प्र.— ३ स्थानकवासी जैन-परंपरा में मूलागमों के अलावा उन पर रची हुई निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, अवचूरी आदि प्रामाणिक नहीं मानी गई है। तथापि कोई ऐसे भाव प्रकट करें कि–'इस चूर्णि या उस चूर्णि अथवा उस भाष्य का निर्णय विवादास्पद प्रसंगों में खासतौर से निर्णायक भूमिका के रूप में स्वीकार किया जाता है।" जिसका अर्थापत्ति से यह अर्थ निकलता है कि शास्त्रीय निर्णय रूप प्रासाद (महल) विना चूर्णि के खड़े नहीं हो सकते। क्या यह वात स्थानकवासी जैन स्वीकार कर सकते हैं? निशीथचूर्णि की महत्ता का दर्शन कराते हुए भाग १ पृ. ४ पं. ७–८ में लिखा है कि–

"विवादास्पद प्रसंगों पर चूर्णि का निर्णय खास तौर पर निर्णायक भूमिका के रूप में स्वीकार किया जाता है।"

उत्तर–निर्युक्ति आदि को पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते हुए भी उनमें रही सिद्धान्तानुकूल वात को नहीं मानना, यह न्यायोचित नहीं है। ये तो जैनाचार्य हैं, किन्तु किसी अन्यतीर्थी आदि की वात भी यदि सिद्धान्तानुकूल हो तो उसे मान्य करने में कोई वाधा नहीं है। यह वात सूयगडांग श्रुतस्कंध १ अ. १४ की गाथा ८ में स्पष्ट वताई गई है+। सिद्धान्तानुकूल

+ गाथा ८–९ का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—

प्रमाद से गलती हो जाने पर, वालक, वृद्ध अथवा काम करने वाली पनिहारी या किसी भी संसारी द्वारा सिद्धान्त के अनुसार उत्तम और शिक्षित कर्त्तव्य की ओर प्रेरित किए जाने पर साधक उन पर क्रोध न करे, न उन्हें

होने पर 'घट दासी' की बात को भी मान्य करने का भगवान् का आदेश है और सिद्धान्त के प्रतिकूल राजा-महाराजा यहाँ तक कि चक्रवर्ती की भी बात स्वीकार नहीं की जा सकती। जैसे कि–श्रेणिक राजा और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की बात स्वीकार नहीं की गई×।

यदि कोई यह शंका करे कि उन विशाल बुद्धि वाले आचार्यों द्वारा कथित बातों की समालोचना आज के अल्पबुद्धि वाले कैसे कर सकते हैं? तो यह कोई ठीक बात नहीं है। क्योंकि आज के अल्प बुद्धि वाले हम लोग उनकी बातों की समीक्षा मात्र अपनी बुद्धि से ही नहीं करते हैं, गणधर कृत सूत्र के साथ उनकी तुलना करने पर उनकी सत्यता-असत्यता स्वयं प्रमाणित हो जाती है। ऐसा करने का अधिकार उन अल्पबुद्धि वालों को भी है। इसके लिए श्रीगौतमस्वामीजी एवं आनंद श्रावक का उदाहरण हमारे समाने है। यह बात तो

व्यथित करे, न उन्हें जरा भी कठोर वचन कहे। परन्तु उनकी बात को शान्ति से सुने तथा यह प्रतिज्ञा करे कि यह ठीक कहते हैं। मैं ऐसा ही करूँगा। तथा यह सोच कर तनिक भी प्रमाद न करे कि इसमें मेरा ही कल्याण है।

× श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि को (उत्तरा॰ के बीसवें अध्ययन में वर्णन है) प्रलोभन दिया था तथा ब्रह्मदत्त के द्वारा चित्तमुनि को (उत्त. अ. १३ में) कामभोग का निमंत्रण दिया गया था, लेकिन वे स्वीकार नहीं किए गए। सूत्रकृतांग अ. ३ उ. २ गाथा १५, १६, १७, १८, १९-२० में भी यही बात कही गई है कि राजा-महाराजाओं द्वारा दिए हुए आहार, साज-सामान आदि से दूर रहे।

आगम-पाठियों की है, किन्तु व्यवहार में भी देखा जाता है कि भोजन (पाक) कार्य में निपुण पाचक (रसोइए) द्वारा बनाई गई रसोई में कंकर, काष्ट, तृण आदि निकलने पर एक सामान्य व्यक्ति भी उसे भोजन के साथ ग्रहण नहीं करके बाहर निकाल देता है, यानि अभोज्य समझ कर छोड़ देता है। वह यह संकोच नहीं करता कि--मैं इतने अच्छे रसोइए की बनाई रसोई में त्रुटि कैसे निकालूं ?

"चूर्णि आदि के बिना शास्त्रीय निर्णय रूप प्रासाद खड़ा नहीं हो सकता"--यह कथन असंगत है, क्योंकि चूर्णि आदि है भी क्या ? चूर्णि आदि हैं तो उन सूत्रों की व्याख्या मात्र ही। सूत्रों का अवलम्बन ले कर ही चूर्णि का जन्म हुआ है। अतः चूर्णि से सूत्र, सर्वोपरि है। व्याख्या तो अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार संक्षिप्त या विस्तृत करेंगे। वह सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि चूर्णि आदि की रचना तो सूत्रों के पश्चात् ही हुई है। अतः यह कैसे माना जा सकता है कि चूर्णि आदि के बिना 'शास्त्रीय..... सकता।' शास्त्रीय-निर्णय रूपी प्रासाद तो चूर्णि की उत्पत्ति के पहले भी खड़ा था, जिसका अवलम्बन ले कर अनेक भव्यात्माओं ने अपना-कल्याण किया है। तथा चूर्णि आदि के अभाव में भी अपना आत्म-कल्याण करेंगे। इसलिए यह बात शुद्ध श्रद्धा वाले स्थानकवासी स्वीकार नहीं कर सकते। स्थानकवासी ही क्या, मंदिरमार्गियों में से भी कई स्वीकार नहीं करते हैं।

"चूर्णि का निर्णय खास तौर पर निर्णायक-भूमिका के

रूप में स्वीकार किया जाता है"-यह भी कैसे संगत हो सकता है? क्योंकि चूर्णि में प्रसंगोपात इन कार्यों को भी करने का कथन किया है। यथा-१ मैथुन सेवन करना २ रात्रि को आहार लेना, भोजन रखना ३ कच्चा पानी पीना ४ जूते रखना ५ पान आदि हरी खाना ६ वृक्षों पर चढ़ना ७ स्नान करना ८ अनन्तकाय का भक्षण करना ९ आधाकर्मी लेना आदि अनेक बातें आई है, जो कि सूत्रों से निषिद्ध है और जिनके सेवन से महाव्रतों का भी भंग होता है *।

१७४६ प्र.-४ यदि कोई यह लिखे कि-"निशीथ सूत्र जैसे महान् है, वैसे ही उसके भाष्य और चूर्णि भी महान् है," (भाग पृ. ३ पं. २७-२८) तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि लेखक भाष्य एवं चूर्णि को जो छद्मस्थ के द्वारा लिखे गए हैं, और जिनमें कुछ अटपटी बातें होना लेखक स्वयं स्वीकार करता है (भाग १ पृ, ५ पंक्ति २९-३०) वे उन्हें श्रुत-केवली रचित पूर्वापर अविरुद्ध आगम के साथ एकबारगी बिठा देते हैं, तथा वे निशीथ चूर्णि एवं भाष्य को मूल निशीथ सूत्र से किसी अंश में कम मानने को तैयार नहीं है?

उत्तर-" निशीथ सूत्र जैसे महान् है, वैसे ही उसके भाष्य व चूर्णि भी महान् है।" यह लिखना असंगत है। इसका खुलासा पहले आ चुका है। वहाँ चूर्णि की कितनी ही बातों की मूल-सूत्र के साथ असंगतता बताई गई है। अतः चूर्णि भाष्यादि

* मांस-भक्षण एवं मानव-हत्या जैसे पाप भी उसमें निर्दोष माने गए हैं- डोशीजी।

को मूल के साथ समान दरजे पर बिठाना किसी भी प्रकार उचित नहीं हो सकता।

१७४७ प्र.–५" छेद सूत्रों का अपना स्वयं का मूलग्रंथ भी भाष्य एवं चूर्णि के बिना यथार्थतः समझ में नहीं आ सकता। यदि कोई भाष्य एवं चूर्णि को अवलोकन किए बिना ही छेद सूत्रगत मूल रहस्यों को जान लेने का दावा करता है, तो मैं कहूँगा या तो वह भ्रान्ति में हैं या दंभ में है।" (भा.१पृ.३ पं. ५–७)

उपरोक्त लेखन कितना सत्य है ? क्या आज तक के सभी गीतार्थ मुनियों ने इसका अवलोकन किया है ? एवं क्या नहीं करने वाले सभी भ्रान्ति में या दंभी ही रहे ?

उत्तर–उपरोक्त पूछी गई बात शास्त्रों के मूलपाठ से बेमेल ठहरती है। क्योंकि व्यवहारसूत्र के दसवें उद्देशक में यह मर्यादा बताई है कि तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को आचारांग व निशीथ का ज्ञान, चार वर्ष की प्रवज्या वाले को सूयगडांग, पाँच वर्ष की दीक्षा वाले को दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार का ज्ञान दिया जा सकता है, ऐसी मर्यादा बताई है। अब विचार यह करना है कि साधारण बुद्धि वाला साधु क्या तीन वर्ष में आचारांग तथा निशीथ तथा निशीथचूर्णि का पारंगत बन सकता है ? हाँ, मूल तथा मूल का भावार्थ का तो अध्ययन हो सकता है। इन दोनों शास्त्रों के ज्ञान बिना संघाड़े का अग्रसर हो कर नहीं विचर सकता। उस संघाड़े में एक भी ऐसा न हो तो जितने दिन वह संघाड़ा इस तरह विचरा हो, उतने ही दिन का दीक्षा-छेद सभी को आता है।

यह बात व्यवहार सूत्र के छठे उद्देशक में बताई गई है। चौथे वर्ष में सूयकृतांग बता कर पांचवें वर्ष में दशाश्रुतस्कंध, बृहत्-कल्प व व्यवहार बताया है सो क्या एक वर्ष में इनके भाष्यों का अध्ययन किया जा सकता है ? यदि नहीं, तो क्या जैनों के सभी फिरके भ्रान्त या दम्भी है ? लेखक के पूर्वजों ने भी ऐसा नहीं किया है।

१७४८ प्र.–६ छेद सूत्रों की गोपनीयता पर चर्चा करते हुए (भाग १ पृ. ४ पंक्ति ३१–३३) में लिखा है कि–

"प्रायः प्रत्येक शास्त्र ही गोपनीय है। अधिकारी का ध्यान सर्वत्र ही रहना चाहिए। क्या अन्य सूत्र अनाधिकारी को प्ररूपित किए जा सकते हैं ? नहीं। प्राचीन काल में जैसे लेखन था वैसे ही आज के युग में मुद्रण है। गुरुमुख से चली आने वाली श्रुत-परम्परा जिस दिन कलम और दवात का सहारा लेकर पुस्तकारूढ़ हुई, उसी दिन गोप्यता का प्रश्न समाप्त हो गया।"

उपरोक्त लेख से लेखक का क्या यह मत निश्चित नहीं हो जाता कि शास्त्रों के पुस्तकारूढ़ होने के पश्चात् भी उनकी गोप्यता मानने वाले एवं ऐसी धारणा करने वाले को जिसमें स्वयं भाष्य एवं चूर्णिकार भी है (भाग १ पृ. ४ पंक्ति १५) गलत ख्याल वाले हैं।

उत्तर–उपरोक्त उद्धरण से तो यही स्पष्ट होता है कि लेखक छेद सूत्रों की गोपनीयता को समाप्त हुई मानते हैं, तथा गोपनीयता मानने वालों को गलत खयाल वाले भी मानते हैं

परन्तु एकान्त रूप से बात ऐसी नहीं है। सूत्रों के पुस्तकारूढ़ हो जाने पर भी कई बातें ऐसी है जो गुरुगम की आवश्यकता रखती है। गुरुगम के बिना उनका यथार्थ स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। न सभी सूत्र मुद्रित होने मात्र से सभी के अध्ययन योग्य हो गए हैं।

१७४९ प्र.–७ क्या साधुमार्गी आम्नाय (मान्यता) यह है कि– "जो उत्सर्ग में प्रतिषिद्ध है, वे सब के सब कारण उत्पन्न होने पर कल्पनीय (ग्राह्य) हो जाते हैं। ऐसा करने में किसी प्रकार का दोष भी नहीं है (भाग ३ पृ. ७ पंक्ति ३–४)।

यदि यह आम्नाएँ स्थानकवासियों की नहीं है, तो मूर्ति-पूजकों की इस अब्रह्मचर्य तक को कल्पनीय एवं ग्राह्य बना देने वाली आम्नाओं का स्थानकवासी के द्वारा प्रचारित किया जाना संगत है?

उत्तर–उपरोक्त कथन सूत्र-विरुद्ध है। कारण उपस्थित होने पर भी हिंसा, झूठ आदि किसी भी पाप का सेवन नहीं होता हो, ऐसा कार्य तो कल्पनीय (ग्राह्य) हो सकता है। किन्तु, जिनमें पापों का सेवन होता हो, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता। जिन अपवादों में हिंसादि प्रवृत्ति नहीं हों, उसमें प्राय-श्चित्त नहीं है। जिन अपवादों में हिंसा मृषा माया आदि की प्रवृत्ति हो, ऐसे अपवादों की प्रवृत्ति होने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करना पड़ता है। जैसे नदी उतरना, गिरती हुई बूंदों में मल-मूत्र त्याग के लिए जाना आदि। अनाभोग (अनुपयोग) से भी अपवाद सेवन हो जाने का पता लगने पर गौतम स्वामीजी को

तरह प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार कई अपवाद प्रायश्चित्त के योग्य है,कई बिना प्रायश्चित्त के है और कई अपवादों का सेवन सर्वथा निषिद्ध है। यथा—रात्रि-भोजन, मैथुन, आधाकर्मी सेवन, सचित्तकाय-भक्षण आदि-आदि। अतः "अपवाद सेवन में दोष नहीं है—" ऐसा कहना (एकान्त कथन करना) शास्त्र-विरुद्ध है।

भगवती श. २५ उ. ७ में प्रतिसेवना (दोष लगने) के दस भेद बताए हैं, जिसमें रोग, पीड़ा आपत्ति आदि भी हैं। रोगादि अवस्था एवं आपत्ति के समय भी अपवाद का सेवन करने पर शास्त्रकार दोष बताते हैं। अतः अपवाद सेवन को निर्दोष कहना शास्त्र-विरुद्ध है, स्वच्छंद मति कल्पना है। स्थानकवासी जैन का नाम धराने वाले व्यक्ति द्वारा सब अपवाद सेवन को निर्दोष प्रचारित किया जाना समाज-द्रोह है। शुद्ध विचारधारा वाले स्थानकवासियों ने तो क्या, किन्तु मूर्तिपूजक विजयविमल गणि ने "गच्छाचार पइण्णा" की टीका में सन्निधि (वासी) रखने में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त, आत्म-संयम विराधना आज्ञाभंग आदि दोष गृहस्थ तुल्य बताया है। वह टीका इस प्रकार है—

"जत्थय यत्र च गणे 'सन्निहि' त्ति आहारमनाहारं न तिलतुषमात्रमपि पानकं वा विन्दुमात्र मपि तेषां निशास्थापनं संनिधी रुच्यते,संनिधि परिभोगे रक्षणे च चतुर्गुरु प्रायश्चित्तं आत्म-संयम-विराधना अनवस्थाऽऽज्ञाभंगादि दोषा गृहस्थतुल्यश्चेति उक्तं च दशवैकालिके—"लोभस्से समणुप्फासे मण्णे अन्नयरामवि, जे सिया सन्निहि कामे गिही पव्वइए न से।" (अ. ६ गाथा १९)

१७५० प्र.—८ क्या यह कथन सिद्धान्तानुकूल है।—"कोई महत्वपूर्ण स्थिति न हो, मृत्यु की ओर जाने में समाधि भाव का भंग होता है। जीवन के बचाव में कहीं अधिक धर्माराधन संभवित हो, तो साधक के लिए जीते रहना ही श्रेयस्कर हैं। भले ही जीवन के लिए स्वीकृत व्रतों में थोड़ा फेर-फार ही क्यों न करना पड़े।" (भाग ३ पृ. १४ पंक्ति २३—२६)।

उत्तर—प्रश्नोक्त स्थिति के लिए शास्त्रकार दशवैकालिक अ. २ गाथा ७ में फरमाते हैं कि—"सेयं ते मरणं भवे," यानि मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु स्वीकृत व्रत के भंग की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। गृद्ध-पृष्ठ और वेहानस मरण यद्यपि बालमरण है, किन्तु व्रत-रक्षा के लिए इन मरणों से मरा जाय, तो वे पंडित-मरण हैं। यह बात स्थानांग के दूसरे स्थान में बताई है। इस प्रकार शास्त्रकार तो व्रत-रक्षा से मर जाना श्रेष्ठ बतलाते हैं, जब कि प्रस्तुत लेखक महाशय जीवन के लिए व्रत-भंग बतलाते हैं। अतः यह शास्त्र से एकदम विपरीत बात है। साधुओं की तो बात ही क्या, किन्तु अर्हन्नक श्रावक, कामदेव श्रावक आदि के समक्ष मरण प्रसंग उपस्थित था। किन्तु वे अपने व्रत से विचलित नहीं हुए। अम्बड़जी के शिष्यों ने तो साधारण व्रत-रक्षा के लिए अपने प्राण त्याग दिए, किन्तु स्वीकृत व्रतों में फेर-फार नहीं किया। इत्यादि अनेक महापुरुष अपने स्वीकृत व्रतों में दृढ़ रहे हैं।

१७५१ प्र—"यदि 'सन्मति तर्क' आदि दर्शन-प्रभावक ग्रंथों का अध्ययन करना हो, चारित्र की रक्षा के लिए इधर-उधर

सुदूर भू-प्रदेश में क्षेत्र-परिवर्तन करना हो, तब यदि गत्यंतर भाव होने से अकल्पनीय आहारादि का सेवन कर लिया जाता है–तो वह शुद्ध ही माना जाता है, अशुद्ध नहीं। शुद्ध का अर्थ है–इस संबंध में साधक को कोई प्रायश्चित्त नहीं आता?"

क्या कविश्रीजी कथित (भाग ३ पृ १६ पं. ५–९) यह अपवाद सिद्धान्त एवं जैनागम सम्मत्त हैं? क्या ये अपवाद दूषण नहीं भूषण (भाग ३ पृ. १३ पं. १०) स्वरूप हैं? क्या इनसे व्रत भंग नहीं होता (भाग ३ पृ. १७ पं. ९) क्या इन्हें प्रायश्चित्त नहीं आता?

उत्तर–इस प्रश्न में लेखक ने अकल्पनीय आहारादि का सेवन निर्दोष माना है, किन्तु सूत्रकार तो इसका निषेध करते हैं। यथा–

"जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ (दशवै ५-१-४४)

इस गाथा में बताया है कि यदि कल्पनीय-अकल्पनीय की शंका भी हो जाय, तो मुनि उस आहारदि को ग्रहण नहीं करे।

"उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए॥ ५६॥"

अर्थ–आहारादि की उत्पत्ति के विषय में पूछताछ करके, निःशंक होने पर ही उसे ग्रहण करे, अन्यथा नहीं। इसी सूत्र के छठे अ. की ४७–४८ वीं गाथाओं में अकल्पनीय आहारादि को ग्रहण करना तो दूर, किन्तु ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं करे। आगे साठवीं गाथा में गृहस्थ के घर बैठने का निषेध

होते हुए भी तीन के लिए अपवाद बताया है, सो यदि सन्मति-तर्क आदि के अध्ययनार्थ अकल्पनीय को ग्रहण करने का अपवाद होता तो शास्त्रकार इसका भी अपवाद बता देते। भगवती श. ५ उ. ६ में आधाकर्म, क्रीतकृत आदि दोषयुक्त आहारादि को मन में भी निर्दोष समझे तथा उसकी आलोचना न करे, तो विराधक कहा है। टीकाकार ने तो विपरीत श्रद्धानादि रूप होने से मिथ्यात्वादि की प्राप्ति बताई है। यहां आपत्ति तथा रोगादि कारण में लेने से निर्दोषता नहीं बताई है।

१७५२ प्र.–"बाल वृद्ध और ग्लानादि के लिए भिक्षार्थ जाना अत्यावश्यक हो, तब भी उचित यतना के साथ (कंबल ओढ कर) वर्षा में गमनागमन किया जा सकता है।" यह बात भाग ३ पृ. २० पं. २६–२७ में है।

उत्तर–प्रश्न में वर्षा में भिक्षार्थ गमन करना बतलाया, किन्तु वह शास्त्र-विरुद्ध है। दशवैकालिक अ. ५ गाथा ८ में इसका निषेध है। इस विषय में किसी प्रकार का अपवाद भी नहीं बतलाया गया है। दशवैकालिक अ. ६ गा. ६ में बतलाया है कि बाल, वृद्ध, रोगी सभी को इन अठारह स्थानों का पालन करना चाहिए। व्यवहार भाष्य उ. ७ गाथा २७८ में तुषार मात्र वृष्टि पड़ती हो, तो भी जाने का निषेध है।

१७५३ प्र.–"जिन्होंने संथारा कर लिया है, ऐसे भिक्षु को असमाधि भाव हो जाने पर यदि वह स्थिर-चित्त न रहे तथा भक्तपान (आहार-पानी) मांगने लगे, तो उसे अवश्य दे देना चाहिए।"

कविश्रीजी ने उपरोक्त अपवाद भाग ३ पृ. २५-२६ पंक्ति १ में बताया है, सो सिद्धान्त सम्मत है या नहीं ?

उत्तर—संथारे वाले का चित्त संथारे से विचलित हो गया हो, तो साथ वाले उसके चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न कर सकते हैं। प्रयत्न से उसका चित स्थिर हो जाय, तो बहुत अच्छा है। यदि स्थिर न हुआ हो, तो मुनि उसे आहारादि लाकर दे सकते हैं। विचलित चित्त वाले को बलात् रोकना मुनियों का धर्म नहीं है। यदि उसे आहारादि न दिया जाय, तो भी उसका चित्त चलित हो जाने से उसके भाव-संथारा तो वैसे ही नहीं रहा। अपवाद को 'भूषण' नहीं बताना चाहिए। प्र. १७५०, ५१, ५२ शास्त्र-विहित अपवादों में नहीं है। १७५३ का खुलासा ऊपर दिया जा चुका है।

१७५४ प्र.—६ पूज्यश्री धर्मदासजी म. सा. ने अपने शिष्य को जो संथारा लेकर डिग गया, उसे काफी समझाया-बुझाया। जब वह नहीं माना, तो उसे पाट पर से उतार दिया, तथा धर्म की हानि न हो, इसलिए स्वयं संथारा लेकर, संथारा पाट पर विराज गए। परन्तु उन्होंने आहार-पानी ला कर नहीं दिया। लेखक के विचारानुसार प्र. १७५३ कथित आवश्यक अपवाद का सेवन नहीं किया। लेखक ने भाग ३ पृ. २ पंक्ति २२ पर लिखा है कि—"अपवाद का सेवन न करने वालों की साधना अधूरी है, विकृत है, एकांगी है, एकान्त है," तो लेखक के विचारानुसार स्थानकवासी समाज के महान् उन्नायकों में से एक पूज्य श्री धर्मदासजी म. सा. की अधूरी आदि नहीं है ?

उत्तर–पूज्य श्री धर्मदासजी म. सा. ने तथा उनके दूसरे मुनियों ने संथारे से विचलित मुनि पर बलात्कार (जबरदस्ती रोकना) नहीं किया तथा न उस मुनि से संबंध विच्छेद ही किया। विचलित होने पर यदि उसे आहारादि लाकर देने में एतराज समझते, तो वे उसके साथ संभोग कैसे रखते ? क्यों कि अनुमोदन रूप कार्य उन्होने किया ही है। संथारे से विचलित होकर नियम भंग करने वाले को अपनी शुद्धि के लिए आलोचनादि करना उचित है। व्यवहार सूत्र उद्देशक २ से यह स्पष्ट होता है कि उस (संथारे से चलित) मुनि को गण से पृथक् न करे, किन्तु अग्लान भाव से उसकी सेवा करे। पूज्य श्री धर्मदासजी म. सा. एवं उनके आज्ञानुवर्ती संतों ने आगमानुसार ही किया। आहार लाने के लिए वह मुनि स्वयं गया अथवा दूसरे मुनि गए, यह तो प्रसंगानुसार कर लिया होगा। परन्तु उस मुनि से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया। अतः उन्होंने मर्यादा का पालन किया। पू० श्री धर्मदासजी म. सा. ने उस मुनि के स्थान पर संथारा किया, वह उनकी महान् विशेषता थी। यदि वे संथारा न भी करते, तो भी आगम-मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता। संथारा कर के उन महापुरुष ने जैनधर्म का गौरव बढ़ाया है। उनके लिए तो अपवाद का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि अपवाद का सेवन तो संथारा भंग करने वाले मुनि ने किया था।

"अपवाद का सेवन न करने वाले की साधना अधूरी है, विकृत है, एकांत है, एकांगी है।" यह लिखना सिद्धात के

प्रतिकूल है। अपवाद लाचारी है। उसका सेवन अनिवार्य नहं
है। यथाशक्य तो अपवाद का सेवन न करना ही श्रेयस्कर है
उसके सेवन किए बिना साधना अधूरी है, आदि बताना सूत्र
से विद्रोह करना है। गजसुकुमाल आदि अनेक मुनि अपवा
का सेवन किए बिना ही मोक्ष पधारे हैं, तो उनकी साधन
अधूरी कैसे कही जा सकती है ?

१७५५ प्र.—१० प्रसंग आने पर शास्त्र के अनुकूल जो मुि
नाव में बैठते हैं, नदी उतरते हैं, वृक्षादि का सहारा ग्रहण कर
हैं, उन्हें क्या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं आता ? दश
श्रुतस्कंध में महीने में दो उदकलेप तक लगाने वाला असबल
चारी एवं तीन लगाने वाला सबलाचारी माना गया है। व
किस दृष्टिकोण से है ? यदि महीने में दो तक उदकले
सकारण करने पर प्रायश्चित्त नहीं आता हो, तो तीन का उदव
लेप करते ही एकदम सबलाचारी क्यों कह दिया गया है ?

उत्तर—वृक्ष का सहारा लेने का अपवाद प्राचीन धारण
में नहीं है। वृक्ष पर चढ़ने का चौमासी दण्ड निशीथ उ. १
में बताया है। नदी उतरना, नाव में बैठना आदि का
प्रायश्चित्त ग्रहण करना शास्त्र-सम्मत है।

जैसे—छद्मस्थ साधु उपयोगपूर्वक अप्रमत्त भाव से निरति
चारपने गमनागमनादि आवश्यक कर्त्तव्य करे, तब भी उ
आलोचना प्रायश्चित्त बताया है और उच्च संयमी गीतार्थ
अणगारों ने भी इसी प्रकार किया है। विधिपूर्वक गमनागम
में भी विराधना की आशंका के कारण प्रायश्चित्त बताया है

तो नदी उतरने में तो प्रत्यक्ष विराधना दिखाई देती है। अतः उसका प्रायश्चित्त क्यों नहीं, अर्थात् अवश्य है*।

१७५६ प्र.–११ आचारांग में–"जाणं वा णो जाणंति वएज्जा"–यह पाठ आया है, तथा सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५ में दो गाथाएँ इस प्रकार है–

"अहाकम्माणिभुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्ते ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते त्ति वा पुणो ॥८॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई।
एएहिं दोहि ठाणेहिं, अणायारंतु जाणए" ॥९॥

इनका क्या भावार्थ है? क्या समय पर झूठ बोला जा सकता है और आधाकर्मी आहार खाया जा सकता है? एवं यह करते हुए प्रायश्चित्त भी नहीं आता?

उत्तर–"जाणं वा णो जाणंति वएज्जा"–इस पाठ का कोई झूठ बोलना भी अर्थ करते हैं, परन्तु यह अर्थ संगत नहीं बैठता। क्योंकि दशवैकालिक अ. ७ गाथा १ में "दो ण भासिज्जसव्वसो" अर्थात् असत्य व मिश्र दो भाषा नहीं बोले–ऐसा आदेश है। यहाँ "सव्वसो" शब्द से किसी भी स्थान व कैसे भी संकट में झूठ कदापि नहीं बोलना, तो फिर जीव-रक्षादि के कारण से असत्य कैसे बोल सकते है+। तथा इसी सूत्र

---

* लगभग ऐसे ही विचार स्व. मूर्तिपूजकाचार्य श्रीसागरानन्दसूरिजी के भी लगते हैं। देखिए "तप अने उद्यापन" पुस्तक पृ. १४–डोशीजी।

+ एक बात यह भी है कि यदि पृच्छाकार मुनि की बात का विश्वास न करे, तो उसका मृषा भाषण व्यर्थ जाता है। तथा पहले से यदि उसने

के अ. ६ गाथा ११ में असत्य का निषेध करते हुए "अप्पणट्ठा परट्ठा वा" अर्थात् अपने या दूसरों के लिए असत्य नहीं बोलना इसमें स्व-पर दोनों के लिए निषेध है, तो फिर परार्थ (जीव रक्षादि के लिए) भी झूठ कैसे बोल सकता है ?

उपरोक्त आधारों को देखते हुए जीव-रक्षादि निमित्त भी असत्य भाषण, शास्त्र-संगत प्रतीत नहीं होता। अत "जाणं वा णो जाणंति वएज्जा" इस पाठ का अन्वय इस प्रका है–"जाण वा जाणं इति णो वएज्जा।" अर्थ–जानता हुआ भी जानता हूँ, ऐसा न कहे यानि मौन रहे। यही अर्थ ठीक संगत है। ऐसा अर्थ करने पर ही इसी आलावे के शब्दों (राह गीर के पूछने पर उन जीवों के विषय में कुछ न कहे–न बतावे उसके प्रश्न को किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं करता हुआ मौन ही रहे, परन्तु जानता हुआ भी जानता हूँ, ऐसा न कहे तात्पर्य यह है कि जानते हुए भी 'जानता हूँ–ऐसा न कह क मौन ही रहे।) के साथ मेल ठीक रूप से बैठता है।

अपितु इसके अतिरिक्त यहीं पर चार आलावे आगे औ आए हैं। उसमें से तीसरे आलावे में–"यहाँ से ग्रामादि कितने दूर है।" तथा चौथे में "अमुक ग्राम या नगरादि का कौनसा मार्ग है?" इन प्रश्नों के संबंध में भी वही पाठ है। यदि

जानवरों की झांकी देख ली हो तथा फिर विश्वास के लिए पूछता हो तब वह समझले कि अरे! यह मुनि होकर भी झूठ बोलता है, मुनियों में कोई अच्छा नहीं है। सभी असत्य-भाषी है। तो इससे मान-मर्यादा ए धर्म-गौरव में कमी होती है। व्रत तो भंग होता ही है।

उपरोक्त पाठ का अर्थ झूठ बोलना किया जाय, तो यहाँ पर जीव-रक्षा संबंधी कोई खास प्रसंग नहीं है, तो यहाँ किस प्रसंग को लेकर झूठ बोलेगा ? अतः साधु का यह कल्प है कि गृहस्थ संबंधी ऐसे प्रसंगों पर कुछ नहीं कह कर मौन रखे। इसलिए उस पाठ का झूठ बोलने का अभिप्राय निकालना ठीक नहीं। तथा उदासीनता की दृष्टि से यह अर्थ भी बैठता है। जैसे लोक-व्यवहार में किसी बात को जानते हुए भी उसके समर्थक न होने पर "मैं नहीं जानता"–ऐसा कह दिया करते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि इस विषय में मैं नहीं कहता। इसी प्रकार यहाँ भी उस पथिक को कहे कि मैं नहीं जानता अर्थात् हम साधु हैं, इस विषय में कुछ नहीं कहते।

प्रतिसेवना का दसवाँ भेद वीमंसा (विमर्श) है। यदि कोई आचार्यादि आलोचनादि के प्रसंग पर शिष्यादि की परीक्षा के लिए यदि जानते हुए भी 'यह मैंने अच्छी तरह नहीं सुना' आदि वचन की प्रवृत्ति करे, तो उनको भी दोष के भागी माने हैं। इसमें एकान्त शिष्यादि के हित के लिए प्रवृति की जाती है, फिर भी वे दोष के भागी गिने जाते है। वैसे ही मृगादि के विषय में वास्तविकता छिपा कर अन्यथा बोलने में तत्संबंधी मायामृषा होने से दोष के भागी कैसे नहीं माने जाएँगे ?

इसी प्रकार कोई साधु अन्य साधु की सेवा में गया हो तो भी वह गमनागमनादि संबंधी प्रायश्चित्त का भागी बनता है। इसमें एकान्त परहित बुद्धि की अपेक्षा होते हुए भी विराधना की आशंका से प्रायश्चित्त बताया गया है, तो फिर मृगादि

के लिए जानकार असत्य भाषण में आगम-आज्ञा कैसे हो सकती है ? यह विचारणीय है।

इस प्रकार आगम में अनेक स्थलों पर असत्य व मिश्र भाषण का निषेध किया गया है और इनके बोलने वालों को असमाधि और शबल दोष के भागी माने गए हैं। वे विभिन्न प्रायश्चित्त के भागी बताए गए हैं। और संकट के प्रसंगों पर असत्य तथा मिश्र भाषी को भी प्रायश्चित्त किए बिना विराधक माना है, तो फिर किसी भी दशा में असत्य व मिश्र का प्रयोग शास्त्र-सम्मत्त कैसे माना जा सकता है ?

आधाकर्मादि दोष युक्त आहारादि का आगम में सर्वत्र निषेध है और सकारण अवस्था में भी लेने की आज्ञा नहीं है। प्रासंगिक शास्त्रीय विषय का संक्षिप्त निरूपण यही सिद्ध करता है–

आचारांग श्रुतस्कंध २ में यह वर्णन है कि साधु-साध्वी के लिए बनाया हुआ, खरीदा हुआ आदि दोष युक्त अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र-पात्रादि साधारणतया तथा पुरिसंतर कडं (दूसरे के सुपुर्द किया हुआ) आदि किसी भी प्रकार का लेना पूर्ण निषिद्ध है।

सूत्रकृतांग अ. ९ गाथा १४, अ. ११ गाथा १३, १४, १५ तथा अ. १७, १८ में विशद रूप से सदोष आहारादि लेने का खंडन किया गया है। इसी सूत्र में उल्लेख करते हुए अ. १ उ. ३ गाथा १ के वर्णन से यह सिद्ध है कि पूतिकर्म दोष सेवन करने वाला दो पक्षों (गृहस्थ व साधु पक्ष) का सेवन करता

है। तात्पर्य यह है कि वह साधु, गृहस्थ तुल्य है। इसी सूत्र के दसवें अ. की ग्यारहवीं गाथा में आधाकर्मी की इच्छा करने का भी निषेध किया गया है, तो फिर उसके ग्रहण करने की तो बात ही कहाँ रही ?

भगवती श. १ उ. ९ में आधाकर्मी भोगने वाला कर्मों को गाढ़ करता है और अनादि-अनन्त संसार में बारम्बार परिभ्रमण करता है। क्योंकि श्रुत-चारित्र रूप आत्मधर्म का उल्लंघन करता है तथा धर्म का उल्लंघन करता हुआ पृथ्वीकायादि का निरनुकंपक (अनुकंपा नहीं करने वाला) बनता है। इसी प्रकार श. १८ उ. १० आदि स्थानों में अनेषणिय आहार को अभक्ष्य कहा है। एवं प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन अ. २०, दशवै. अ. ३-१० आदि सूत्रों में अनेक स्थानों पर आधाकर्मी आदि दोष युक्त आहारादि के ग्रहण का निषेध किया है और कटुफल बतलाया है, परन्तु सामान्य या विशेष कैसे भी कारण में ग्रहण करने का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह (आधाकर्मादि का ग्रहण) शास्त्र-सम्मत्त नहीं है। तथापि जो इसको ग्रहण करता है, वह दोष व प्रायश्चित्त का भागी माना गया है। एतदर्थ निम्नशास्त्रीय स्थल दृष्टव्य है-

समवायांग में-असमाधि और शबल दोष।
दशाश्रुतस्कंध में-असमाधि और शबल दोष।
निशीथ में-प्रायश्चित्त वर्णन।

ऐसा होते हुए भी सूयगडांग के इक्कीसवें अध्ययन की

के लिए जानकार असत्य भाषण में आगम-आज्ञा कैसे हो सकती है ? यह विचारणीय है।

इस प्रकार आगम में अनेक स्थलों पर असत्य व मिश्र भाषण का निषेध किया गया है और इनके बोलने वालों को असमाधि और शबल दोष के भागी माने गए हैं। वे विभिन्न प्रायश्चित्त के भागी बताए गए हैं। और संकट के प्रसंगों पर असत्य तथा मिश्र भाषी को भी प्रायश्चित्त किए बिना विराधक माना है, तो फिर किसी भी दशा में असत्य व मिश्र का प्रयोग शास्त्र-सम्मत्त कैसे माना जा सकता है ?

आधाकर्मादि दोष युक्त आहारादि का आगम में सर्वत्र निषेध है और सकारण अवस्था में भी लेने की आज्ञा नहीं है। प्रासंगिक शास्त्रीय विषय का संक्षिप्त निरूपण यही सिद्ध करता है—

आचारांग श्रुतस्कंध २ में यह वर्णन है कि साधु-साध्वी के लिए बनाया हुआ, खरीदा हुआ आदि दोष युक्त अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र-पात्रादि साधारणतया तथा पुरिसंतर कडं (दूसरे के सुपुर्द किया हुआ) आदि किसी भी प्रकार का लेना पूर्ण निषिद्ध है।

सूत्रकृतांग अ. ९ गाथा १४, अ. ११ गाथा १३, १४, १५ तथा अ. १७, १८ में विशद रूप से सदोष आहारादि लेने का खंडन किया गया है। इसी सूत्र में उल्लेख करते हुए अ. १ उ. ३ गाथा १ के वर्णन से यह सिद्ध है कि पूतिकर्म दोष सेवन करने वाला दो पक्षों (गृहस्थ व साधु पक्ष) का सेवन करता

है। तात्पर्य यह है कि वह साधु, गृहस्थ तुल्य है। इसी सूत्र के दसवें अ. की ग्यारहवीं गाथा में आधाकर्मी की इच्छा करने का भी निषेध किया गया है, तो फिर उसके ग्रहण करने की तो बात ही कहाँ रही ?

भगवती श. १ उ. ९ में आधाकर्मी भोगने वाला कर्मों को गाढ़ करता है और अनादि-अनन्त संसार में बारम्बार परिभ्रमण करता है। क्योंकि श्रुत-चारित्र रूप आत्मधर्म का उल्लंघन करता है तथा धर्म का उल्लंघन करता हुआ पृथ्वीकायादि का निरनुकंपक (अनुकंपा नहीं करने वाला) बनता है। इसी प्रकार श. १८ उ. १० आदि स्थानों में अनेषणिय आहार को अभक्ष्य कहा है। एवं प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन अ. २०, दशवै. अ. ३-१० आदि सूत्रों में अनेक स्थानों पर आधाकर्मी आदि दोष युक्त आहारादि के ग्रहण का निषेध किया है और कटुफल बतलाया है, परन्तु सामान्य या विशेष कैसे भी कारण में ग्रहण करने का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह (आधाकर्मादि का ग्रहण) शास्त्र-सम्मत्त नहीं है। तथापि जो इसको ग्रहण करता है, वह दोष व प्रायश्चित्त का भागी माना गया है। एतदर्थ निम्नशास्त्रीय स्थल दृष्टव्य है-

समवायांग में-असमाधि और शबल दोष।

दशाश्रुतस्कंध में-असमाधि और शबल दोष।

निशीथ में-प्रायश्चित्त वर्णन।

ऐसा होते हुए भी सूयगडांग के इक्कीसवें अध्ययन की

गाथा८–९ की टीका में लिखा है कि–जो शास्त्रोक्त रीति से आधाकर्मादि का उपभोग करता है, उसके कर्म बंध नहीं होता। जो इसका उल्लंघन करते हुए आधाकर्मादि का उपभोग करता है, वह कर्मबंध का भागी होता है। किन्तु क्षुधा-पीड़ित साधु द्वारा उस दशा में उसका उपभोग करना शास्त्र-विरुद्ध नहीं है। इसी प्रकार सभी अनाचारों के विषय में समझना चाहिए–ऐसा टीकाकार ने बता कर आधाकर्मादि दोष युक्त आहारादि को कारण दशा में ग्रहण करने की स्थापना की है और इस प्रकार करने वाले को ठीक (निर्दोष) बताया है, वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आगम में ऐसे अनेक प्रसंगों पर भी अनेक स्थानों पर उपरोक्त आहारादि का निषेध पाया जाता है। जैसे–व्यवहार-भाष्य तृतीय विभाग पत्र १११–११२ गाथा २३०, २३१ में पासत्था का अधिकार बताते हुए शय्यातरपिंड, स्थापनापिंड, अभिहृडपिंड आदि को कारण व बिना कारण भोगने वाले को देशतः पासत्था बताया है।

व्यवहारसूत्र चतुर्थ विभाग उद्देशक २ सू. ५-६ भाष्य गाथा ६४ परिहार (प्रायश्चित्त) वहन करने वाला ग्लानता को प्राप्त अर्थात् क्षुधा-पिपासा से पीड़ित अनेषणिकादि भोगने वाले को प्रायश्चित्त का कारण बताया है।

दशवैकालिक अ. ६ गाथा ६ में बालवृद्ध सरोगी-निरोगी आदि सभी को महाव्रत, पिंडविशुद्धि आदि १८ बोल अखंड पालन करना बतलाया है। यहाँ रोगी इत्यादि के लिए भी

स्पष्ट रूप से निषेध है ।

आचारांग अ. ८ उ. २ में वर्णन है कि आधाकर्मादि अशुद्ध आहारादि साधु के नहीं लेने से गृहस्थ कुपित होकर उसको मारे अथवा दूसरों से कहे कि इसको मारो, कूटो, छेदो, जलाओ, लूटो, खोसो, जीवन-रहित करो, इत्यादि संकट उसके द्वारा प्राप्त होने पर भी वह उस संकट को सहन करे तथा क्षुधा-तृषा से पीड़ित होने पर भी वैसा आहारादि नहीं लेवे । ऐसी दुसह्य आपत्ति के समय में भी शास्त्रकार ने किसी प्रकार का अपवाद नहीं बताया है, तो फिर क्षुधा-पीड़ितादि दशा में आधाकर्मादि का ग्रहण कैसे मान्य हो सकता है ?

बृहत्कल्प सूत्र के चौथे उद्देशे में वर्णन है कि अचित्त, अनेषणीय आहारपानी आ जाने पर, छेदोपस्थापनीय चारित्र जिसको देना है, ऐसा नवदीक्षित साधु हो, तो उसको वह आहार देना, नहीं हो तो वह आहार परठ देना, परन्तु रोगी क्षुधादि से पीड़ित को वह आहार देने का अपवाद नहीं रखा गया है, तो फिर क्षुधा-पीड़ित आदि दशा में आधाकर्मादि का ग्रहण कैसे किया जा सकता है ?

भगवती श. २५ उ. ७ में प्रतिसेवना (दोष लगने) के १० प्रकार बताए हैं । उनमें से चौथा भेद 'आतुर' यानि क्षुधा-तृषा की पीड़ा से व्याकुल होकर तथा पाँचवाँ भेद 'आपत्ति' उसके चार भेद–

१ द्रव्यापत्ति–प्रासुकादि द्रव्य की अप्राप्ति ।

२ क्षेत्र आपत्ति–अटवी की प्राप्ति होने से ।

३ काल आपत्ति–दुर्भिक्ष आदि के समय।

४ भावापत्ति–रोगादि प्राप्त होने पर।

इन कारणों के वश दोष लगते हैं। यदि क्षुधादि और रोगादि के लिए सदोष आहार का अपवाद होता, तो यहाँ उसे दोषी क्यों बतलाते ?

भगवती श. ५ उ. ६ में आधाकर्म, क्रीतकृत आदि दोष-युक्त आहारादि को मन में भी निर्दोष समझे तथा आलोचना न करे, तो उसे 'विराधक' कहा है और टीकाकार ने तो विपरीत श्रद्धानादि रूप होने से मिथ्यात्व आदि की प्राप्ति बताई है। यहाँ आपत्ति तथा रोगादि कारण से लेने में निर्दोषता नहीं बता कर सभी के लिए विराधना (मिथ्यात्वादि की प्राप्ति) बताई है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर कारण दशा में भी लेना सिद्ध नहीं होता है।

इस विषय में सूत्रकृतांग का प्रमाण देना भी शास्त्रमर्मज्ञों के लिए शोभाजनक नहीं है, क्योंकि इन गाथाओं में तो आधा-कर्मादि सदोषाहारादि लेने का कोई उल्लेख ही नहीं है, न वैसी वस्तु लेने संबंधी कोई अर्थ ही प्रकट होता है। यहाँ तो आधा-कर्मादि भोगने वालों को "कर्मबंध होता ही है या नहीं ही होता है"–ऐसा निश्चय कर के एकांत भाषा नहीं बोलने का वर्णन है। छद्मस्थता के कारण भोक्ता सम्बन्धी आंतरिक ज्ञान नहीं होने से निश्चयकारी भाषा बोलने का निषेध है। क्योंकि जिस मुनि के शुद्धि का ध्यान रखते हुए भी अनजान में सदोष आहारादि भोगने में आ गया हो, उसके प्रथम एवं

चरम तीर्थंकर के साधु वर्ग के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों के साधु-वर्ग में जिनके लिए आहारादि किया गया है, उनको छोड़ कर शेष के तथा छेदोपस्थापनीय देने योग्य नव-दीक्षित की अनैषणिक आहारादि आ जाने पर देने का विधान होने से उसको दिए जाने पर वह काम में लेता हो, तो इन सभी के 'कर्म-बंध हुए ही'-यह कैसे कहा जा सकता है ? ऐसी परिस्थिति में उनके तत्संबंधी कर्म-बंध नहीं होने से कर्म-बंध हुए "तथा उपरोक्त मुनियों के अतिरिक्त जो जान कर उपरोक्त प्रकार का आहारादि जिसने भोगा हो, उसके तत्संबंधी कर्म-बंध होने से 'नहीं हुए'-इस प्रकार बोलना भी अनाचीर्ण बताया है । अतः उपरोक्त गाथाओं से सदोष आहारादि का भोग सिद्ध नहीं होता ।

उपरोक्त शास्त्रीय विधानानुसार किसी भी दशा में आधाकर्मादि सदोष आहारादि का ग्रहण करना सिद्ध नहीं होता है ।

१७५७ प्र.-१ शंका-प्रश्नों की पूर्वभूमिका के रूप में जो पहला प्रश्न था, उस विषय में महासतीजी श्री कौशल्याजी का यह मन्तव्य सुनने को मिला कि "कविश्रीजी ने विवेक को बड़ा बताया, सो वह ठीक ही है, क्योंकि यदि विवेक न हुआ, तो शास्त्रों का सम्यक् अर्थ कैसे लगाया जा सकेगा ?"

विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति में एक कारण यह भी रहा है । विवेक के अभाव में एक ही भाववाही वाक्यों से अनेक भाव निकाले गए और अनेक सम्प्रदायें जन्मी । विवेक बड़ा

मानने के लिए दूसरा तर्क यह भी उठा—वैदिक लोग जो वेद को अपौरुषेय मानते हैं, उनका खण्डन जैन न्यायाचार्यों ने यह कह कर भी किया है कि—"यदि पौरुषेयत्व से ही सभी ग्रंथों में अप्रामाणिकता आ जाती है, तो उनके अर्थादि में भी अप्रामाणिकता आ जानी चाहिए। यह भाव लिया जाता है, तो वेद अपौरुषेय होने से भले प्रामाणिक माने जायँ, किन्तु उनके अर्थादि कैसे प्रामाणिक माने जा सकते हैं? क्योंकि उनके अर्थ आदि पुरुष ही करते आए हैं। जब वेद के अर्थादि अप्रामाणिक है, तो वेद की प्रामाणिकता का मूल्य ही क्या? चूंकि वह अर्थादि के बिना निरर्थक है।" यह तर्क हम पर भी निम्न रीति से लागू हो सकता है -"यदि जैनागम ही प्रमाण है, हमारा विवेक प्रमाण नहीं, तो जैनागमों की प्रामाणिकता किस काम की? जैनागम का सही अर्थ भी विवेक द्वारा ही किया जा सकता है। यदि विवेक अप्रामाणिक है, तो उसके द्वारा किया गया अर्थ भी अप्रामाणिक होगा। ऐसी दशा में जैनागम की अर्थवत्ता निरर्थक हो जाने से जैनागम भी निरर्थक हो जाएँगे। अतः विवेक को बड़ा मान लिया जाय, तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—आपने महासतीजी का जो मन्तव्य लिखा, वह ध्यान में नही जंचा। वैसे तो प्रत्येक प्राणी में अपनी-अपनी अपेक्षा विवेक श्रेष्ठ ही माना जाता है। किन्तु केवलज्ञान से छद्मस्थ के विवेक का दर्जा ऊँचा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का किया गया अर्थ प्रामाणिक नहीं हो सकता। तीर्थंकर भगवान् के कथित अर्थ के साथ संगति होने से उस अर्थ की प्रामाणिकता मानी

जाती है। यथा–"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणा"–तीर्थंकर भगवान् अर्थ फरमाते हैं, उस पर से गणधर सूत्र रचना करते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में बतलाया गया है कि तीर्थंकरों के अर्थ–अर्थागम है। गणधरों के लिए अनन्तरागम है, उनके शिष्य-प्रशिष्यों के लिए परम्परागम है। इस प्रकार अर्थ को सर्वज्ञों के लिए ही आत्मागम माना है, दूसरों के लिए नहीं। अतः दूसरों के द्वारा स्वतः विवेक द्वारा किया हुआ अर्थ एकांत रूप से प्रामाणिक कैसे हो सकता है? वही अर्थ प्रामाणिक हो सकेगा जो सर्वज्ञ-कथित अर्थ से विपरीत न हो। अतः अर्थ अन्यकृत नहीं ठहरता है। न्यायग्रंथों में वेदों की अपौरुषेयता का खण्डन किया गया है। और उसकी प्रामाणिकता का खंडन अन्य युक्तियों से किया गया है। पौरुषेयापौरुषेयत्व से प्रामाणिकता अप्रामाणिकता का खंडन-मंडन नहीं किया गया है।

अतः छद्मस्थ का विवेक केवलज्ञान से बढ़ कर नहीं हो सकता। आप इस पर तथा पूर्व प्रदत्त उत्तर पर गहराई से विचार करें×।

× विवेक का प्रतिस्पर्धी अविवेक होता है। साधारण मनुष्य के लिए [illegible] कैसे कहा जाय कि उसका सोचना विवेक युक्त है, अविवेक पूर्ण नहीं? [illegible]दि वह सूत्रोल्लेखित भावों के अनुरूप सोचता है, तो विवेक युक्त होगा, [illegible]न्यथा अविवेकपूर्ण। उनके विवेक-अविवेक की कसौटी भी सूत्र का भाव [illegible] होगा। अविवेकी पुरुष सम्यक् श्रुत को भी मिथ्या रूप में अपना लेता [illegible], यह आगमोक्ति इस बात को स्पष्ट कर रही है। अतः स्वतंत्र विवेक [illegible]ए नहीं हो सकता—डोशीजी।

१७५८ प्र.–२ शंका-गणधरकृत सूत्रों के आधार से अल्प बुद्धि वाले, विशाल बुद्धि वाले आचार्यों की कथित बातों की आलोचना कर सकते हैं। इसकी सिद्धि के लिए आपने 'गौतम-आनन्द' का दृष्टान्त दिया। लेकिन गौतम स्वामीजी ने अनुपयुक्त दशा में उत्तर दिया था, जब कि आनन्दजी अवधिज्ञानोपयुक्त अवस्था में थे। इस प्रकार यह दृष्टांत उपनय, पक्ष में बराबर नहीं बैठ रहा है। यहाँ एक तो ज्ञानोपयुक्त ही नहीं है, दूसरी ओर प्रतिवाद करने वाला अवधिज्ञान का धारक है। हममें एवं विशाल बुद्धि वाले आचार्यों में यह अन्तर नहीं है। विशाल बुद्धि वाले आचार्य हमसे निम्न या अल्प ज्ञान वाले नहीं है। अतः यह दृष्टान्त कैसे उपयुक्त हो सकता है? क्या यह नहीं हो सकता कि एक बच्चा अच्छे रसोईए द्वारा कुशलता पूर्वक बनाए भोजन में डाले बादाम पिस्ता लवंग ईलायची को कंकर समझ कर ही थूक दे?

उत्तर–महाराजश्री के ध्यान में तो यहाँ दिया हुआ गौतम स्वामी और आनन्द श्रावक का दृष्टान्त पक्ष-सिद्धि के लिए ठीक लगता है। क्योंकि टीका, चूर्णि, भाष्यादि के कर्त्ता आचार्यों से अमुक भूलें अनाभोग से हुई–ऐसा मान कर चलें तथा वह भूल किसी के ध्यान में आने पर वह उसे बतावे तो ऐसी दशा में वह दृष्टान्त तो उपयुक्त है, किन्तु बादाम पिस्ता आदि को फेंक देने का दृष्टान्त ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि यह तो गलती बताने वाले की स्वयं की गलती ही समझी जाएगी।

१७५९ प्र.–३ शंका-नौवें उत्तर में आपने बताया—

"पूज्यश्री धर्मदासजी म. सा. एवं दूसरे मुनियों ने संथारे से विचलित उस मुनि पर बलात्कार भी नहीं किया, न उस मुनि के साथ सम्बन्ध विच्छेद किया।....... लाने के लिए वह मुनि स्वयं गया अथवा दूसरे मुनि गए, यह तो प्रसंगानुसार जैसा उचित था, वैसा कर लिया होगा।" इसमें अरेखांकित वाक्यानुसार तो हमें इतिहास सुनने को मिला तथा यह अवस्था तब तक रही, जब तक पूज्यश्री के उज्जैन से धार आने तथा चलित शिष्य को समझाने का कार्य पूरा नहीं हुआ। किन्तु रेखांकित इतिहास नहीं सुना। हमारे सुनने के अनुसार तो आधी रात तक समझाने पर भी जब चलित शिष्य स्थिर नहीं हो सका, तो पूज्यश्री चलित शिष्य को संथारे के पाट से उतार कर स्वयं संथारे के पाट पर विराज गए, तथा संथारा ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात् चलित शिष्य ने मुनि-वेश को छोड़ कर सूर्योदय के पूर्व ही आहार ग्रहण कर लिया। रेखांकित इतिहास आपको कहाँ, किन मुनिराजों अथवा श्रावकों से सुनने को मिला? यह जानने की इच्छा है।

उत्तर–संथारे से चलित शिष्य का इतिहास पंडितजी म. सा. के ध्यान में नहीं है। महाराजश्री ने तो निर्ग्रंथ-मर्यादा को को लक्ष्य कर रेखांकित बात का कथन किया है। यदि आपके लेखानुसार यह बात सही है कि–"उस चलित शिष्य ने मुनि-वेश छोड़ दिया तथा सूर्योदय के पहले ही आहार ग्रहण कर लिया।" तो ऐसी दशा में अन्य साधु कर ही क्या सकते हैं?

हाँ, यदि पूज्य श्री धर्मदासजी म. सा. उस चलित शिष्य से कहते कि–"यदि तुम संथारा भंग करोगे, तो तुमको गृहस्थ होना पड़ेगा," तब तो विचारणीय विषय होता। अस्तु, मैंने (समर्थमलजी म. सा. के) दीक्षित होने के बाद कई ऐसे प्रसंग सुनने में आए हैं कि अमुक संथारे से विचलित हो गए, परन्तु गृहस्थ नहीं हुए। मुनि अवस्था में ही रहे और दुबारा संथारा कर के कालधर्म को प्राप्त हुए हैं। अतः चलित को दृढ़ करने की कोशिश करनी चाहिए, परन्तु उससे सम्पूर्ण विच्छेद कर देना कैसे ठीक हो सकता है?

१७६० प्र.–४ शंका–इसी उत्तर में व्यवहारसूत्र उद्देशक २ सूत्र १६ का उद्धरण देते हुए फरमाया कि उस (संथारे से चलित) मुनि को गण से पृथक् न करे, किन्तु अग्लान भाव से उसकी सेवा करे। इसमें कोष्ठक में दिया "संथारे से चलित" अर्थ किस आधार से है? चलित मुनि को आहार ला कर देने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है, या नहीं? उपवासादि तथा अन्य तपश्चर्याओं से चलित मुनि को प्रसंग आने पर क्या आहार ला कर दिया जा सकता है, तथा कोई प्रायश्चित्त नहीं आता?

उत्तर–व्यवहारसूत्र उद्देशक २ में कहा है–"भत्तपाण-पडियाइक्खित्त भिक्खुगिलायमाणं........ ॥सू. १६॥ इस सूत्र में बतलाया गया है कि संथारे वाला साधु ग्लानता को प्राप्त होने पर उसे गणावच्छेदक को गण से बाहर निकालना नहीं कल्पता। किंतु उसकी ग्लान भाव से सेवा करे। फिर रोग

आतंक से विप्रमुक्त होने पर उसे स्तोक व्यवहार प्रायश्चित्त देवे और इसी प्रकार सेवा करने वाले को भी।

यहाँ संथारे वाले की ग्लानता होने पर सेवा करने का कथन करने का क्या कारण है? क्या अग्लानावस्था हो तो सेवा नहीं करना? तथा सेवा का व्यवहार स्तोक प्रायश्चित्त क्यों? इत्यादि बातों पर विचार करने से यहाँ पर "संथारे से चलित" यह अर्थ ध्वनित होता है।

जब संथारादि से चलित को भी आहार-पानी ला कर दिया जा सकता है, तब उपवासादि अन्य तपस्या से चलित को ला कर देने की तो बात ही क्या?

१७६१ प्र.–५ शंका–दसवें उत्तर में लिखा है कि –"वृक्ष का सहारा लेना–यह प्राचीन धारणा में नहीं है।" तो प्राचीन धारणानुसार "से तत्थ पलयमाणे वा पवडमाणे वा–आचारांग २–३–२ का क्या अर्थ है? यदि कोई मुनि विहार करते हुए गड्ढे आदि किसी विषम-स्थान में उपयोग रखते हुए भी गिर जाय तो उन्हें शास्त्रानुसार क्या करना चाहिए? ऊपर आने के लिए हरी-रहित मार्ग नहीं है। यह भी सम्भव नहीं हो कि बाहर रहे अन्य मुनि उन्हें ऊपर रहते हुए बाहर आ जाने के लिए सहायता दे सके, तो ऐसी दशा में क्या करना शास्त्र-सिद्धान्त सम्मत्त है?

उत्तर–आचारांग सूत्र २–३–२ का अर्थ प्राचीन धारणानुसार इस प्रकार है–" साधु इस प्रकार के विषम मार्ग में नहीं जावें, क्योंकि केवली भगवान् ने इसको कर्म-बंध का कारण बताया

है। कारण कि ऐसे मार्ग में जाने पर ... .. पड़ेगा तथा प्रतिपंथी के हाथ का सहारा लेना पड़ेगा। इस भाव का अर्थ संवेगी आचार्य श्री पार्श्वचंद्रसूरि ने भी किया है, ऐसा म. श्री के ध्यान में है।

१७६२ प्र. ६ शंका–सैलाना से प्रकाशित दशवैकालिक सूत्र में "अप्पणट्ठा परट्ठा वा" "इस गाथा का जैसा अर्थ किया है, उस हिसाब से अपने या दूसरे के लिए झूठ बोला जा सकता है। यदि उसमें किसी की हिंसा न होती हो; तथा आपश्री ने इन शब्दों से झूठ नहीं बोलना सिद्ध किया है। क्या वह अर्थ उपयुक्त नहीं? इस गाथा का यदि संयुक्त अर्थ किया जाय, तो पूर्व-पक्ष का अर्थ झलकता है। भिन्न-भिन्न अर्थ किया जाय, तो आप का अर्थ झलकता है। प्रश्न यह है कि इसका संयुक्त अर्थ नहीं करना चाहिए, पर विमुक्त अर्थ करना चाहिए। यथा–"अपने लिए या पराये के लिए अथवा हास्य से अथवा भय से अथवा हिंसाकारी झूठ न स्वयं बोलना चाहिए, न दूसरे को बोलने के लिए प्रेरित करना चाहिए।" यह कैसे निर्णीत हो?

उत्तर–"दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो ण भासिज्ज सव्वसो," इस गाथा का तथा "सव्वं भंते मुसावायं पच्चक्खामि" इत्यादि पाठों के अर्थ पर विचार करने से म. श्री को तो "अप्पणट्ठा परट्ठा वा" का वियुक्त अर्थ करना ही सुसंगत जँचता है।

१७६३ प्र. ७ शंका–जिन में हिंसादि की प्रवृत्ति नहीं हो,

क्या ऐसे सभी अपवाद अपनाए जा सकते हैं, तथा क्या अपनाए जाने वाले ऐसे सभी अपवादों का प्रायश्चित्त नहीं आता? यदि सभी नहीं अपनाए जा सकते हैं, तो कौन-कौन से प्रायश्चित्त किन-किन अपवादों का आता है?

उत्तर–**उत्सर्ग**–साधु को गृहस्थ के यहाँ बैठने का निषेध। **अपवाद**–तीन करणों से बैठना दशवैकालिक अ. ६ गाथा ६० में बताया है। **उत्सर्ग**–साधु को स्त्री-संघटा निषिद्ध है। **अपवाद**–सर्प-दंश काल में स्थविरकल्पी के लिए उपचारार्थ स्त्री-संघटा हो जाने पर प्रायश्चित्त नहीं (व्यवहार उ. ५)। **उत्सर्ग**–अपने अनध्यायकाल में साधु-साध्वी को स्वाध्याय करने पर चौमासी प्रायश्चित्त (निशीथ उ. १९) **अपवाद**-साधु-साध्वी को तथा साध्वी, साधु को परस्पर वाचना दे ले सकते हैं। (व्यवहार उ. ७) **उत्सर्ग**–पहले प्रहर का अशनादि या विलेपनादि चौथे प्रहर में काम में लेने का चौमासी प्रायश्चित्त (बृहत्कल्प उ. ४ निशीथ उ. १३ में) **अपवाद**–गाढा-गाढी कारण में चौथे प्रहर में आहारादि काम में लिया जा सकता है (बृहत्कल्प उ. ५)। **उत्सर्ग**–जिस उपाश्रय में ठंडे व गर्म पानी के, मदिरा के घड़े पड़े हों, रात भर दीपक जलता हो, ऐसे मकान में उतरना निषिद्ध है। **अपवाद**–दूसरा मकान न मिलने पर १–२ रात्रि उपरोक्त मकान में ठहर सकते हैं। इत्यादि अपवादों का कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है। (बृहत्कल्प उ. २)।

जिन अपवादों में हिंसादि प्रवृति होती हो, उसका प्रायश्चित्त

भी है। जैसे–नदी उतरना, गिरती बूंदों में मल-मूत्र त्यागना, मुंह से गलत या कठोर भाषा बोलना, बिना आज्ञा किसी मकान में ठहरना आदि अनेक अपवाद हैं।

कई अपवाद सर्वथा निषिद्ध हैं–रात्रि-भोजन, मैथुन सेवन, सचित्तकाय भक्षण, स्नान, आधाकर्मी सेवन आदि आदि।

१७६४ प्र. ८ शंका–नवकल्पी विहारी मुनियों को कम से कम मास में दो तथा वर्ष में नव विहार करने ही पड़ते हैं। अत: शास्त्रकारों ने मास में दो तथा वर्ष में नव उदकलेप तक सबलदोष नहीं बताया, किंतु मास में तीन तथा वर्ष में दस उदकलेप लगने पर सबल-दोष बताया है। यह धारणा आपके द्वारा प्राप्त हुई थी, ऐसा उपयोग लगता है। क्या मास में दो व वर्ष में नव माया के उपरान्त मास में तीन तथा वर्ष में दस माया करने पर सबल-दोष बताने का भी कुछ ऐसा ही कारण है?

समाधान–अनादि काल से परिचित होने के कारण भिक्षा, वस्त्र, पात्र, मकान, खान-पान, आलोचना करना, सुनना, अपने को ठीक बताना आदि-आदि प्रवृत्तियों में कभी माया का सेवन हो जाता है। इस प्रकार का सेवन भी यदि महीने में २ बार से अधिक हो, तो सबल दोष होता है। दोष तो एक बार सेवन होने में भी है, किन्तु दो उपरांत होने से सबल दोष हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक मास में सेवन होता रहे तो वर्ष में नौ से अधिक हो जाने पर सबल दोष हो जाता है।

(यहाँ "कवि विचार श्रमण-श्रेष्ठ की कसौटी पर" नाम से जो

सामग्री सम्यग्दर्शन में वर्ष २१ अंक ५ से शुरु हुई थी तथा वर्ष २१ के अंक १० तक चली थी। वह भाग ३ में प्रस्तुत की गई हैं। पाठक निर्ग्रंथ प्रवचन के सर्वथा अविपरीत अनुकूल वाणी को हृदयंगम कर पूज्य श्री की प्रतिभा का दर्शन करें, यही अपेक्षा है। इसमें कोई भूल रह गई हो, तो संपादक की समझनी चाहिए)

सूत्र श्री भगवतीजी विषयक प्राचीन धारणाएँ

[एक विद्वान आचार्यश्री की एक कृति पूज्य श्रमण-श्रेष्ठ के पास आई थी। उस पर से पूज्य श्रमण-श्रेष्ठ ने अपने संशोधन बताये थे। वे अब प्रश्नोत्तर रूप में नहीं, किंतु पूज्य श्रमण-श्रेष्ठ की धारणा के रूप में दिये जाते हैं]

१७६५–भगवती श. ८ उ. ६ में दाता के लिए बहुत निर्जरा एवं अल्पतर पाप के प्रसंग में जो 'अप्रासुक' एवं अनेषणीय' शब्द आए हैं, उनका अर्थ भी इस प्रकार शास्त्र-संगत होता है–बालक आदि की इच्छा न होते हुए भी देना, उधार ला कर देना, ब्राह्मणों के लिए बनाया हुआ देना तथा बचा हुआ जब तक पुरुषान्तरकृतादि न हुआ हो, वैसा देना, मालोहड आदि दोष वाला देना, दूसरों के लिए ले जाया जाता हुआ आहारादि उसकी बिना आज्ञा देना, शय्यातर का आहारादि उस सगे-सम्बन्धी के यहाँ भेजा हो, उसने जब तक स्वीकार न किया हो, तो उससे पहले लेना, बहुउज्झित धर्म वाला, जबरदस्ती अतिमात्रा में दिया हुआ इत्यादि प्रकार के आहारादि को यहाँ अप्रासुक-अनेषणीय कहा गया है। यह बात आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध के विभिन्न स्थलों के पाठों से स्पष्ट सिद्ध होती है। ऐसा हो, तभी बहुतर निर्जरा का कारण होता है। यहाँ

अप्रासुक का अर्थ 'सजीव' और अनेषणिक का 'प्राणीघातादि' से साधु के लिए तैयार किया हुआ, ऐसा अर्थ सर्वथा असंगत है। क्योंकि इस प्रकार का आहारादि देने वाला दाता तो अल्पायु का बंधक एवं संयम का घातक होता है।

१७६६–भगवती श. ७ उ. २ के मूलपाठ और टीका दोनों से यह स्पष्ट है कि श्रावकों के मूलगुण प्रत्याख्यान (अणुव्रत) न होते हुए भी उत्तरगुण प्रत्याख्यान हो सकते हैं। तथापि कई आधुनिक श्रमणादि अणुव्रतों के बिना किसी भी श्रावक के गुणव्रत व शिक्षाव्रत मानने को तैयार नहीं है। सिद्धान्तानुसार अणुव्रतों के बिना भी गुणव्रत व शिक्षाव्रत होते हैं।

१७६७–भगवती श. ८ उ. ५ में कर्मादानों का जो अर्थ श्री अभयदेवसूरि ने टीका में किया है, वह प्राचीन परम्परा से मेल खाता है। तथा आवश्यक चूर्णि, आवश्यक बृहद् वृत्ति, धर्मसंग्रह, श्रावक-धर्म-प्रज्ञप्ति सटीक, पंचाशक सटीक, धर्म-रत्न प्रकरण सटीक, प्रवचन सारोद्धार सटीक आदि ग्रंथों में भी प्रायः मिलता है। अतः यह स्थल भी विशेष ध्यान देने योग्य है।

१७६८–अन्तर द्वीपों के विषय में टीकाकार तथा प्रचलित प्रथा में तो कहते हैं कि चुल्लहिमवंत एवं शिखरी पर्वत की चार-चार दाढ़ाओं का अस्तित्व है। परंतु ऐसा मानना मूलपाठ के विरुद्ध जाता है। क्योंकि मूलपाठ में कहीं भी दाढ़ाओं का उल्लेख नहीं है। उन पर्वतों की लम्बाई तथा जीवा में भी दाढ़ाओं का माप नहीं आया है।

ये पर्वत पूर्व और पश्चिम की तरफ जम्बूद्वीप की हद तक ही लम्बे हैं और लवण-समुद्र का स्पर्श किया हुआ है, किन्तु ये लवण-समुद्र में नहीं गए हैं। अतः इनकी दाढ़ाएँ कैसे मानी जाय ?

लवण-समुद्र में भी दाढाओं का वर्णन नहीं आया है, तथा कहीं भी मूलपाठ में दाढ़ाओं की लम्बाई-चौड़ाई का माप देखने में नहीं आया। इससे यह स्पष्ट होता है कि लवण-समुद्र में ये भिन्न-भिन्न टापू (द्वीप) हैं, परन्तु दाढ़ा रूप संलग्न द्वीप नहीं हैं। अतः भगवती ९ तथा १० की टीका करते समय यह स्थल भी ध्यान रखने योग्य है।

१७६९–सम्यग्दृष्टि मनुष्य एवं तिर्यंच सम्यग्दृष्टिपने में वैमानिक के सिवाय अन्य आयु नहीं बांधते, किन्तु पूर्व बद्धायु जीव समकित सहित मर कर चारों गति में जा सकते हैं। इस विषय का विशेष खुलासा भगवती श. ३० तथा शतक ८ उ. ९ में है। शतक २६ उ. १ में आयुष्य-कर्म की अपेक्षा समुच्चय जीव के मनःपर्यवज्ञान व णो सण्णोवउत्ता के दूसरे भांगे को छोड़ कर शेष तीन भांगे लिए हैं। तथा तिर्यंच पंचेंद्रिय के सम्यग्दृष्टि आदि पांच बोलों में तथा मनुष्य के सात बोलों में उपरोक्त तीन भांगे ही बताए हैं। इससे भी उपरोक्त बात स्पष्ट होती है। दशाश्रुतस्कंध दशा ६ में क्रियावादी के नरक में जाने का अधिकार है, परन्तु उसका क्रियावादीपने में नरकायु का बंध नहीं होता, क्योंकि भगवती शतक ३० में बताया गया है कि कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के क्रियावादी मनुष्य और

तिर्यंच पंचेंद्रिय, किसी भी गति की आयु का बंध नहीं करते। नर्क में तो ये ३ लेश्याएँ ही हैं। अतः इससे स्पष्ट होता है कि उनका आयु बंध मिथ्यात्व अवस्था में ही होता है। क्षायोपशमिक समकित १ भव में हजारों वार आ-जा सकती है। अतः जिस समय समकित न हो, उस समय नरकायु का बंध हो सकता है। समकित में नहीं हो सकता। मेघकुमार के जीव ने हाथी के भव में तथा सुमुख गाथापति आदि ने भी समकित की अनुपस्थिति में ही मनुष्यायु का बंध किया। हाँ, उनको पहले समकित आई, संसार परित्त किया, किन्तु जिस समय आयुष्य बाँधा उस समय समकित नहीं रही। भगवती श. ३० प्रमाणभूत है। जब अविरति सम्यग्-दृष्टि तिर्यंच व मनुष्य भी समकितावस्था में वैमानिक के सिवाय दूसरा आयुष्य नहीं बांधते, तो देशविरतिपने में तथा सर्वविरतिपने में तो बांध ही कैसे सकते है? यानि नहीं बांध सकते। अतः वर्णनागनतुआ के प्रिय बाल-मित्र आदि ने समकित में आयुष्य नहीं बांधा, ऐसा श. ३० से स्पष्ट है। श. ६ उ. ४ में वैमानिक के सिवाय तेईस दंडक के जीव अप्रत्याख्यान क्रिया से निर्वातित आयुष्य वाले ही होते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि प्रत्याख्यान वाला व्रतधारी भी वैमानिक के सिवाय दूसरा आयुष्य नहीं बांधता।

कर्मग्रंथ, गोम्मटसार आदि ग्रंथों में भी तिर्यंच, मनुष्य के आयुष्य कर्म का बंध समकितावस्था में नहीं बताते हैं।

१७७०–संघादि के कार्य के लिए हिंसा करने में, जीव रक्षार्थ झूठ बोलने में, इत्यादि कार्यवश अपवाद सेवन को का

मुनि तथा टीकाकार ठीक बताते हैं और इसे प्रायश्चित्त का स्थान नहीं बताते हैं। परन्तु यह बात मूलपाठ से विपरीत जाती है। जैसे कि पुलाकलब्धि वाला कोई साधु संघादि के प्रयोजन से "तप-संयम हेत्वर्थ हिंसा, झूठ आदि आश्रवद्वारों का सेवन करता है। यदि वह उसकी आलोचना न करे तो विराधक है, ऐसा शास्त्रकार फरमाते हैं। यदि शास्त्रकारों को उपरोक्त बात इष्ट होती तो संघादि के कार्य के लिए हिंसादि कार्य करने वाले को आलोचना किये बिना विराधक (दोषी) नहीं बताते। तथा भगवती श. २५ उ. ७ में दस प्रकार की प्रतिसेवना बताई है, उसमें आपत्ति (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप आपत्ति) और भय (सिंहादि का) के वश किए गए कार्य को दोष युक्त माना है। प्रवचन-हीलना, धर्म व संघादि पर संकट की प्राप्ति, ये भी आपत्ति व भय के अन्तर्गत हैं। परन्तु इनके लिए किए गए हिंसा, मृषादि आचरण को शास्त्रकारों ने निर्दोष नहीं माना है।

१७७१-संज्ञी तिर्यंच व मनुष्य के लगातार सात-आठ भव के शास्त्रीय वर्णन के विषय में कुछ टीकाकारों का मत है कि सात भव कर्मभूमि के व आठवाँ युगलिक का ही होता है, सो यह बात एकान्त रूप से नहीं है। आठों भव कर्मभूमि के हो सकते हैं-प्रमाण के लिए भगवती शतक २४ प्रस्तुत है। युगलिक भवोपरान्त देवगति ही होती है। संज्ञी तिर्यंच व मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति बताने के लिए ही युगलिक का भव आठवाँ बताया जाता है। यदि युगलिक का भव आठवाँ न

होकर बीच में हो जाय तो उत्कृष्ट कायस्थिति नहीं बन सकती है। कर्म-भूमि के बड़े से बड़े भव भी आठ करोड़ पूर्व के ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। छोटे हो जाय तो आठ अन्तर्मुहूर्त्त के ही हो जावें। तथा बीच में युगलिक हो देव बन जावें तो पूरे आठ भव बने ही नहीं।

१७७२-पंचेंद्रिय के सात या आठ तथा पन्द्रह भव अधिक से अधिक कर सकता है, जो ऐसा कहते हैं वह शास्त्र-संगत नहीं है। कारण कि प्रज्ञापना पद अठारह में पंचेंद्रिय की कायस्थिति एक हजार सागर से कुछ अधिक बताई है। इतनी लम्बी स्थिति में सैकड़ों हजारों भव हो सकते है। हाँ, एक बात ध्यान रखने की है, यदि तिर्यंच पंचेंद्रिय जीव, तिर्यंच पंचेंद्रिय के ही भव करें या मनुष्य मनुष्य के ही लगातार भव करें तो आठ से अधिक नही कर सकता। परन्तु चारों गति के पंचेंद्रिय के भव तो सैकडों, हजारों कर सकता है। जैसे-सुमुख गाथापति के भव से चरम भव तक गिने जाय तो सोलह भव तो इनके हो जाते हैं। नागश्री तथा गोशालक के उस भव से उनके लगातार होने वाले पंचेंद्रिय के भवों की गणना की जाय तो करीब ३० के आसपास तो इन्ही के पहुँच जाते हैं। अतः पंचेंद्रिय के सात, आठ या पन्द्रह भव कहना शास्त्र-सम्मत्त नहीं है।

१७७३-भगवती श. २२ के छठे 'वल्लि' वर्ग में प्रज्ञापनानुसार 'वल्लि' के नामों में 'किसमिस' का भी नाम है और इनके मूल से लेकर बीज पर्यंत दस उद्देशक बताए हैं। उसमें जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं, आदि-आदि विवरण

बताया है। इसमें बीज का भी स्वतंत्र उद्देशक है। अतः मूल-पाठ से ही बीज सिद्ध होता है। स्थानांग २ उ. १ सूत्र ७३ की टीका में किशमिश को सचित्त बताया है।

कोष में किशमिश को 'अबीजा' कहा है, सो यहाँ अकार निषेध अर्थक नहीं है। इसमें सूक्ष्म बीज होने से यहाँ अ नञ् का अर्थ 'सूक्ष्म' अल्प, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि अ नञ् अनेक स्थलों पर अल्पार्थ में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए भगवती शतक १ उद्देशक ८ में बताया है कि दो सरीखे पुरुषों में से सवीर्य जीतता है और अवीर्य हारता है। यहाँ अवीर्य का अर्थ अल्पवीर्य वाला होता है, क्योंकि ससारी कोई भी जीव अवीर्य (वीर्य-रहित) नहीं होता है। इसी प्रकार अज्ञानी (थोड़े ज्ञान वाला) अचेलक (अल्प वस्त्रोपधि वाला) अनुदरा कन्या अलोमिका एडका आदि शब्दों में अ (न) अल्प, सूक्ष्म, कुत्सित आदि अर्थों में आया है। इसी प्रकार 'अबीजा' शब्द में भी 'अ' सूक्ष्म अर्थ में समझना चाहिए। क्योंकि इनमें बीज प्रत्यक्ष (शाक, खीर आदि में, उबली हुई दाख में) दृष्टिगोचर होता है। अतः यह सचित्त होने के साथ ही अंगुर भी सचित्त है ही, क्योंकि वही सूख कर दाख बन जाता है।

१७७४—प्रज्ञापना पद १ में प्रत्येक वनस्पति के भेदों में 'वलय' जाति में केले का वर्णन है। भगवती शतक २२ में 'ताल वर्ग' के भेदों में कदली का नाम भी है। मूल से बीज

पर्यंत दस भेदों के दस उद्देशे बताएँ हैं। जीव कहाँ से आते हैं, आदि द्वार बताए हैं, जिनमें मूलादि पांचों में देव उत्पन्न नहीं होते हैं, लेकिन प्रवाल से बीज पर्यंत पांचों में देव उत्पन्न होते हैं, आदि वर्णन है। यहां मूलपाठ में केले (कदली फल) में बीज व उसमें जीवोत्पत्ति स्पष्ट रूप से बताई है। केले में बीज प्रत्यक्ष रूप से देखने में भी आता है। किन्हीं में छोटे, किन्हीं में बड़े। ध्यान से देखने से दिखाई देते है।

कोकनी केले के विषय में खोज से पता चला है कि एक जाति के केले को पहले आठ दिन धूप में सुखाया जाता है, फिर आठ दिन छाया में। इसके बाद उसका छिलका उतार कर उस पर घी की अंगुली लगा दी जाती है। परन्तु वे चाशनी पक्व नहीं हैं।

नोट—यह किन्हीं प्राचीन महापुरुषों पर आक्षेप नहीं है। किन्तु, उस समय वैसा ही अर्थ विशेष रूप से प्रचलित था। यदि इस अर्थ पर इनका ध्यान पहुँचता, तो वे आत्मार्थी महापुरुष इसको त्यागने में किंचित् भी देरी नहीं करते।

१७७५–कितनेक की मान्यता ऐसी है कि मुनि को एक ही पात्र रखना कल्पनीय है। मात्रक रूपी पात्र रखना भी आचार्यों ने बाद में स्थापित किया है। लेकिन यह बात शास्त्र से मेल नही खाती, कारण कि एक पात्र रखने का विधान एकान्त सभी मुनियों के लिए नहीं है। शास्त्रों में जहाँ कहीं एक पात्र रखने का विधान है, वह जिनकल्पी, पडिमाधारी आदि अभिग्रह धारियों के लिए हैं, स्थविरकल्पियों के लिए नहीं।

ाचारांग अ. १५. में एक पात्र का विधान बताया, उसका ुलासा टीकाकार ने जिनकल्पी के लिए बता कर किया है। ूलपाठ में—"तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे" ादि विशेषण दिए हैं। उनसे भी यह सिद्ध होता है कि इन ेशेषणों से युक्त मुनि के अलावा अन्य मुनि एक से अधिक ात्र रख सकते हैं। तथा उपरोक्त 'जुगवं' शब्द का अर्थ ीसरे चौथे आरे का जन्मा हुआ होता है। वस्त्रैषणा नामक ौदहवें अध्ययन में भी उपरोक्त विशेषण वाले मुनि को ही ्क वस्त्र रखना बताया है। तथा अन्यत्र तीन वस्त्र रखने ा भी बताया है। आठवें अध्ययन चौथे पांचवें छट्ठे उद्दे-ाक में एक पात्र बताया सो भी टीकाकार ने जिनकल्पी आदि े लिए ही कहा है।

श्री स्थानांग सूत्र स्थान ३ उ. ३ सू. १७२ भगवती २५।७ ा उववाई सूत्र में उपकरण ऊनोदरी के तीन भेद में "एगे-त्थे एगेपाए. चियत्तोवहिसाइजणया" जो पाठ आया है। गर सभी मुनियों के लिए एक ही पात्र का विधान हो तो ्क पात्र रखना ऊनोदरी में क्यों आता? जैसे तीन अखंड स्त्र का कल्प है, तभी एक वस्त्र रखना ऊनोदरी बताया। सी प्रकार एक पात्र से अधिक का कल्प है, तभी एक पात्र ो ऊनोदरी में लिया है।

भगवती शतक २ उ. ५ में गौतमस्वामीजी महाराज ने भिक्षार्थ ाने के लिए "...पडिलेहित्ता भायणाइं, वत्थाइं पडिलेहेइ, पडि-ेहित्ता भायणाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं उग्गहेइ....."

इस मूलपाठ की छाया– (प्रतिलिख्य भाजनानि; वस्त्राणि प्रतिलेखयति; प्रतिलिख्य भाजननानि प्रमार्जयति, प्रमार्ज्य भाजनादि उद्गृह्णाति) इस मूल और छाया दोनों में ही पात्रों के लिए बहुवचन होने से कम से कम तीन तो साबित होते हैं। इसी पाठ के टब्बार्थ में 'तीन पात्र' खोल भी दिए हैं। तथा आगे "भत्त पाणं पडिदंसेइ" पाठ है अर्थात् भगवान् को भातपानी साथ ही दिखाया इससे भी एकाधिक पात्र साबित होते हैं, क्योंकि भात-पानी एक ही पात्र में नहीं थे। तथा इन्हीं के लिए इसी पाठ की भलामण भगवती ११–६; विपाक अ. २ उपासकदशा १, अंतगड अतिमुक्तक अधिकार, आदि में दी गई है। भगवती शतक १५ में आनंदजी, अंतकृतदशांग में अर्जुनमालीजी व अणुत्तरोववाई में धन्नाजी आदि महामुनियों के लिए भी इसी पाठ की भलामण आई है।

बृहत्कल्प के तीसरे व निशीथ के चौदहवें उद्देशे के अर्थ में स्पष्ट रूप से तीन पात्र बतलाए हैं; तो भगवती के पाठ व अर्थ से टब्बाकार का यह अर्थ संगत है।

भगवती श. २ उ. १ में "पत्त-चीवराणि गिण्हंति," इसका अर्थ 'वस्त्रों अने पात्रों' किया है। यहाँ भी बहुवचन ही है।

इत्यादि प्रमाणों को देखते शास्त्र में जो अनेक स्थानों में 'पडिग्गहं पत्त' शब्द आए हैं, वे जातिवाचक प्रतीत होते हैं।

दशवैकालिक अ. ४ में त्रसकाय की यतना में 'पडिग्गहंसि वा उदगंसि वा" भिन्न पाठ आया है। इससे स्वयं शास्त्रकार

ने पात्रक व मात्रक अलग-अलग बताए हैं। फिर यह कहना कि मात्रक रखना आचार्यो ने पीछे से बताया, वह कैसे संगत हो सकता है+।

१७७९–भगवती श. १ उ. ६ में सूक्ष्म स्नेहकाय सदा गिरने का वर्णन है। दिन में तो वह सूर्य की गर्मी से ऊपर ही नष्ट हो जाती है, परंतु रात्रि में वह नीचे तक आती है। इसलिए कई मुनियों का कहना है कि–"मुनि को रात्रि में अछाया (ऊपर से विना ढंकी जमीन) में नहीं पूंजना चाहिए, क्योंकि स्नेहकायिक जीवों की विराधना होती है।" परन्तु उनका यह कथन शास्त्रानुकूल नहीं है। क्योंकि गमन-प्रवृत्ति करते हुए साधु को ईर्यासमिति में सतत सावधान रहने का विधान है। उसके अनुसार ईर्यासमिति में दिन में देख कर व रात्रि में पूंज कर चलने का विधान है, तथा उच्चारप्रसवण समिति में भी रात्रि को बिना पूंजे नही परठने का विधान है। उपरोक्त शास्त्रीय विधान में कहीं भी अपवाद को स्थान नहीं है। यद्यपि निरन्तर सूक्ष्म स्नेहकाय पड़ता है, पर फिर भी पूंजने का निषेध नहीं किया गया है। बल्कि इस बात पर जोर दिया गया है कि जब भी काम पड़े रात्रि में बिना पूंजे न चले, न परठे।

+ निशीथ सूत्र उ. १४ सूत्र ५ भाष्य गा. ४५२४ से पात्र विषयक विस्तार से लिखा गया है। गा. ४५४२ और चूर्णि में तो यहाँ तक लिखा है कि-तीर्थंकर भगवंत ने स्थविरकल्पियों को मात्रक रखने की अनुज्ञा दी है, जो कहते हैं कि आर्यरक्षित ने मात्रक रखने की आज्ञा दी, उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है—डोशी

"मनोहर चित्रों से युक्त, माल्य और धूप से वासित कपाट युक्त और श्वेत वस्त्र की चादर से ढके हुए मकान की साधु मन से भी चाहना नहीं करे ॥४॥"

"क्योंकि ऐसे मकान में रहने पर साधु की इंद्रियाँ जब चञ्चल होकर अपने अपने विषयों में प्रवृत होती है, तब उनका निरोध करना कठिन हो जाता है। क्योंकि ऐसा मकान काम-राग को बढ़ाने वाला होता है ॥५॥"

यहाँ सुसज्जित मकान में उतरने का निषेध व उसके कारण बताए हैं, लेकिन किवाड़ वाले मकान में उतरने की मनाई नहीं की है। क्योंकि किवाड़ तो प्रायः सभी मकानों में होते हैं। जो किवाड़ वाले मकान का निषेध करते हैं, वे भी उतरते ही है।

१७८३ प्र.–क्या इस अवसर्पिणी के छठे आरे के लगते समय शत्रुञ्जय पर्वत रहेगा, क्योंकि 'शत्रुञ्जय महात्म्य' में इसे शाश्वत बताया है।

उत्तर–भगवती सूत्र में "वैताढ्य पर्वत रहेगा"–ऐसा जो लिखा है, वह ठीक है। शत्रुञ्जय को शाश्वत मानना आगम विरुद्ध है।

१७८४ प्र.–भगवती श. ८ उ. ९ में कृत्रिम वस्तु की स्थिति संख्याता काल की बताई है, फिर टीकाकार ने अष्टापद पर्वत के भरतकृत बिंब गौतमस्वामीजी के समय तक विद्यमान रहे बताए, सो किस प्रकार ?

उत्तर–टीकाकार का यह कथन ठीक नहीं है। सूत्र विरुद्ध है।

१७८५ प्र.–उपाश्रय में पीपल उगे तो उखाड़ देना, भँवरे, मधु-मक्खियों के जाले हटवाना आदि वृहत्कल्प के चूर्णिकार का मत सावद्य व सूत्र विरुद्ध है या नहीं ?

उत्तर–ऐसा कहना व करना पापपूर्ण व धर्मविरुद्ध है।

१७८६ प्र.–जिनकल्पी को कितने ज्ञान तक हो सकते हैं ? क्या उन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन हो सकता है ?

उत्तर–जिनकल्पी को दो, तीन या चार ज्ञान तक हो सकते हैं। केवलज्ञान नहीं हो सकता। हां, कल्पापीत अवस्था धारण करे, तो केवलज्ञान होना संभव है। यह भाव भगवती श. २५ उ. ६ में हैं।

१७८७ प्र.–क्या चक्रवर्ती की भांति वासुदेव और प्रतिवासुदेव की सेवा भी देव करते हैं ?

उत्तर–वासुदेव, प्रतिवासुदेव तीन खण्ड के शासक होते हैं। अतः मागध आदि देव उनके अधीन होते हैं। चक्र आदि शस्त्र देवाधिष्ठित होते हैं। कई विद्याएँ सिद्ध करने के कारण उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी उनके अधीन होती हैं। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति एवं समवायांग आदि देखने से यह वर्णन मिलता है। तथा उनके प्रबल पुण्य से देव उनके अनेक कार्य भी कर देते हैं जैसा कि अन्तकृतदशांग सूत्र से स्पष्ट होता है कि द्वारिका नगरी वैश्रमण देव ने बनाई।

१७८८ प्र.–चोढ़ालिए में वर्णित नव मल्ली व नव लच्छी ये राजा कहां के थे व इनका यह नाम क्यों पड़ा ?

उत्तर–नव मल्ली राजा काशी के तथा नव लच्छी राजा

कोशल देश के थे। मल्ली व लच्छी यह इन क्षत्रियों की जातियाँ थी। इनके नाम तो अलग-अलग थे।

१७८९ प्र.—भगवान् महावीर स्वामी को बहत्तर वर्ष की अवस्था में बुढ़ापा आया या नहीं ?

उत्तर—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव इन सब को बुढ़ापा नहीं आता है। उनकी उम्र मध्यम (यौवन युक्त) ही रहती है।

१७९० प्र.—वैश्रमण कुमार देवता दान देने में शूर किस प्रकार कहे गए हैं—

उत्तर—वर्षीदान के लिए तीर्थंकरों के भण्डार भरते हैं तथा जन्म, पारणे आदि के अवसर पर अतुल धन वृष्टि करने के कारण इनकों 'दाने सूरा' कहना उचित ही है।

१७९१ प्र.—ज्ञाता सूत्र अ. १ के अनुसार मेघकुमार ने आठ राज-कन्याओं से विवाह किया। क्या इससे व्रत खण्डित नही होता ?

उत्तर—उस समय उनके व्रत ही ग्रहण नहीं किए हुए थे फिर खण्डन का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

१७९२ प्र.—दीक्षाभिषेक के अवसर पर जो दो लाख सोनैये कुत्रिकापण वाले को तथा एक लाख नाई को दिए सो यह धन अभयदान आदि में क्यों नहीं लगाया ?

उत्तर—उस अवसर पर जो स्वर्ण-मुद्राएँ देते हैं, वे अपनी पोजीशन (बड़प्पन, गौरव) के लिए देते हैं।

१७९३—प्र.—क्या देवता निद्रा लेते हैं ?

उत्तर–देवों को नींद नहीं आती।

१७९४ प्र.–देवताओं को भूख कब लगती है, तथा वे क्या खाते हैं?

उत्तर–१०,००० वर्ष की स्थिति वाले १ दिन से, पल्योपमों की स्थिति वालों को दो यावत् नौ दिन से, सागरोपमों की उम्र वालों को जितने सागर की स्थिति होती है, उतने हजार वर्षों से आहार की इच्छा होती है। वे अच्छे वर्णादि के पुद्गल मन के द्वारा ग्रहण कर लेते हैं।

१७९५ प्र.– आषाढ-शुक्ला एकादशी को देवशयनी एकादशी तथा कार्तिक की एकादशी को देव उठनी एकादशी कहते हैं, सो क्या देव सोते व उठते हैं?

उत्तर–ऐसा लौकिक प्रणाली से कहा जाता है। वास्तव में देव न सोते हैं, न सोकर जगते हैं।

१७९६ प्र.–गोपीचन्द-भर्तृहरि कब व कहाँ हुए? इन्हें अमर कैसे कहा जाता है?

उत्तर–भर्तृहरि उज्जैन में हुए मानते हैं। इसी तरह गोपीचन्द भी कहीं हुए होंगे। यह पाँचवें आरे में हुए हों तथा मरकर वाणव्यन्तर में गए हों तथा कभी किसी के याद करने पर मनुष्य रूप में दर्शन दिए हों,ऐसा सम्भव है। मानव के रूप में देख कर लोगों ने इन्हें अमर मान लिया हो, ऐसा भी संभव है।

१७९७ प्र.–कानों में कील लगाने से व पैरों में खीर पकाने से महावीर स्वामी को तकलीफ हुई होगी। क्या पैरों में फफोले पड़े तथा श्रवण-शक्ति में बाधा आई?

उत्तर–कीलों से कानों में व खीर पकाने से पैरों में द
तो हुआ ही होगा। किन्तु कुछ समय बाद ठीक होना संभव है

१७९८ प्र.–'कोटुम्बिक पुरुष' नौकर को कहा समझना य
रिश्तेदारों को ? शास्त्र में कई जगह यह शब्द आया है।

उत्तर–विश्वसनीय एवं आज्ञाकारी पुरुष को कोटुम्बिक
कहते हैं।

१७९९ प्र.–'इभ्य सेठ' किसे कहते हैं ?

उत्तर–हस्ति प्रमाण रजत, स्वर्ण व हीरे-पन्ने आदि के
भेद से इभ्यपति सेठ के तीन भेद होते हैं–जघन्य, मध्यम व
उत्कृष्ट।

१८०० प्र.–छहों आदमियों द्वारा बांधी गई रस्सी को
भी अर्जुनमाली नहीं तोड़ सका, जबकि वह वज्रऋषभनाराच
संहनन वाला था ?

उत्तर–हड्डियों का बंध मजबूत होने से वज्रऋषभनाराच
संहनन होता है, किन्तु सभी वज्रऋषभनाराच संहनन वालों में
इतनी शक्ति नहीं होती कि वे मजबूत बांधी हुई रस्सी तोड़
सकें, कोई-कोई ही तोड़ सकते हैं।

१८०१ प्र.–श्री मल्लीनाथ भगवान् ने स्वर्ण प्रतिमा में
कवल डाल कर समूर्च्छिम उत्पत्ति रूप हिंसा का यह कार्य
क्यों किया ?

उत्तर–भगवान् तीन ज्ञान के धारक थे। छहों राजाओं
को इसी निमित्त से प्रतिबोध होगा, यह जान कर ही प्रभु ने
वैसा किया।

१८०२ प्र.–वर्षधर किसे कहते हैं ?

उत्तर–नपुंसक दो प्रकार के होते हैं–जन्म-नपुंसक एवं कृत-नपुंसक। जो जन्म से नपुंसक नहीं होता, पर अन्तःपुर की रक्षा, परिचर्या आदि के लिए बनाया जाता है, वह 'वर्षधर' कहलाता है। इसे 'खोजा' भी कहते हैं।

१८०३ प्र.–तीर्थंकरादि की उम्र पूरे वर्षों की बताई, सो क्या महीने दिन आदि कम-ज्यादा नहीं होते थे ?

उत्तर–स्थूल दृष्टि से व्यवहार में आयु के वर्ष बताए जाते हैं, किन्तु उसमें कुछ महीने व दिन कम-ज्यादा हो, वे नहीं बताए जाते। उसी व्यवहार-दृष्टि से तीर्थंकरों की आयु के पूर्व व वर्ष बताए हैं– ऐसी संभावना हैं।

१८०४ प्र.–रयणादेवी ने मांकदीपुत्र जिनरक्षित-जिनपाल के साथ भोग भोगे। यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर–रत्नादेवी हल्की जाति की देवी थी। संभवतः इसको देव नहीं चाहते थे। अतः यह सुंदर पुरुषों से अपनी तृप्ति करती थी। स्थानांग ४ में भी ऐसा उल्लेख है कि बहुत-से देव-देवी मनुष्य-मनुष्यनी से भोग भोगना चाहते हैं। अतः यह कोई आश्चर्यकारी बात नहीं है।

१८०५ प्र.– जिनरक्षित जिनपाल ने वधस्थान में सूली पर चढ़े आदमी से सारी बातें सुनी, लेकिन सूली पर चढ़ाने के बाद इतने दिन वह जिंदा कैसे रह पाया ?

उत्तर—शरीर के मध्यभाग को सूली में पिरो कर सुला देते हैं। ऐसी दशा में सूली पर चढ़ा दिए जाने के कई दिन

बाद भी आदमी जिंदा रह सकता है। धीरे-धीरे भूख-प्यास की वेदना आदि से कष्ट पा कर मर जाता है।

१८०६ प्र.–बाहुबलीजी ने कितने महीनों की तपस्या की?

उत्तर–स्थानांग एवं कर्मग्रंथ की टीका आदि में तथा त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में बताया है कि बारह महीने की तपस्या की।

१८०७ प्र.–सुकुमालिका आर्या मर कर दूसरे देवलोक में उत्पन्न कैसे हुई, जब कि विराधक आत्मा उत्कृष्ट प्रथम देवलोक तक ही जाती है?

उत्तर–मूलगुण की विराधना करने वाली आत्मा प्रथम देवलोक से आगे नहीं जाती, यह सत्य है। लेकिन उत्तरगुणों की विराधक आत्मा बारहवें स्वर्ग तक जा सकती है और देवीपने उत्पन्न न हो, यह भी सम्भव है। देवी रूप से उत्पन्न होने पर उसकी पीछे के भव की विराधना समझी जाती है।

१८०८ प्र.–द्रौपदी को कृष्ण महाराज धातकी खण्ड से लवणसमुद्र लाए सो अपने बल द्वारा या देव की सहायता से? रथ पानी में चल रहा था या पुल बनाया था?

उत्तर–श्रीकृष्ण वासुदेव आदि ने आते व जाते समय देवशक्ति से ही लवण-समुद्र पार किया था। देव ने पुल बनाया, ऐसा वर्णन नहीं है, लेकिन उनको ऐसा ही प्रतीत होता था जैसे रथ भूमि पर ही चल रहा हो।

१८०९ प्र.–धन्ना सार्थवाह ने सुंसुमा दारिका का मांस व रुधिर पका कर खाया। बाद में प्रव्रजित हो कर ग्यारह अंग

के ज्ञाता बने और प्रथम देवलोक गए। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर मोक्ष जायेंगे। पूछना यह है कि मांस को स्थानांग ४ में नर्क का कारण बताया है, फिर वे देवलोक में कैसे गए तथा उस समय वे जैन श्रावक थे या नहीं ?

उत्तर-धन्ना-सार्थवाह उस समय जैन श्रावक नहीं थे। वे धर्म के ज्ञाता बाद में बने हैं। यद्यपि मांसाहार नरक का कारण है, फिर भी आयु का बंध नहीं हुआ था। आयु-बंध धर्मी होने के बाद हुआ। अतः वे स्वर्ग में गए।

१८१० प्र.-वासुदेव आदि की तरह क्या श्रेणिक महाराज भी निदान कर के आए थे, जिससे वे अविरत रह कर सामायिक, पौषध आदि क्रिया न कर सके ?

उत्तर-नियाणा न होते हुए भी जिस जीव के अप्रत्याख्यानी कषाय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम न हो, उस जीव को वास्तविक रूप से व्रत-प्रत्याख्यान नहीं आ सकते। यही कारण श्रेणिक महाराज के लिए भी सम्भवित होता है।

१८११ प्र.-देव के द्वारा खण्ड-खण्ड कर दिया जाने पर भी कामदेव का शरीर किस प्रकार जुड़ गया ?

उत्तर-डॉक्टर आदि मनुष्य भी औदारिक के अवयवों को तोड़ कर जोड़ सकते हैं, तो फिर देवों की तो बात ही क्या ? वे तो तुरंत ही ठीक करना चाहें, तो कर सकते हैं। भगवती श. १४ उ. ८ में तो यहाँ तक फरमाया है कि देवेंद्र किसी मनुष्य के मस्तक का चूर्ण कर के वापिस ठीक कर देते हैं। इसी प्रकार देव ने कामदेवजी के शरीर को भी ठीक कर दिया

उस प्रकार करते हैं। कोई खाते हुए सावद्य त्याग रूप पौषध करते हैं। कोई श्रावक नियमित रूप से छः पौषध करने वाले होते हैं, किन्हीं के एक महीने में एक पौषध का भी नियम नहीं होता। इत्यादि रूप से श्रावकों के अनेक दर्जे हैं।

१८२० प्र.–पाँच प्रकार की निद्राएँ सर्वघाती कर्म के भेद में कैसे ली गई है? ये आत्मा के कौनसे गुणों का घात करती है? दर्शनावरणीय के भेदों में पांच निद्राएँ गिनी गई है, लेकिन दर्शन का सामान्य रूप तो कुछ अंशों में निगोद में भी नित्य खुला रहता है?

उत्तर–निद्रावस्था में शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शादि पाँचों का ज्ञान रुका रहता है। यह निद्रा-पँचक पाँचों इंद्रियों के अवबोध को आवृत करती है। इसलिए इन्हें कर्मग्रंथ भाग एक गाथा ११ तथा कर्मग्रंथ भाग पाँच गाथा १३ में सर्वघाती प्रकृतियों में गिना है।

केवलदर्शनावरणीय कर्म के होते हुए भी जीव पाँचों इंद्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों को ग्रहण करता है। पाँचों इंद्रियों द्वारा अपने विषय-ग्रहण की शक्ति को ये निद्राएँ पूरी तरह रोकती हैं। इसलिए ये आत्मा के चक्षु, अचक्षु आदि दर्शन गुण को रोकती हैं। इतना होते हुए भी जिस प्रकार घने बादल छाए रहने पर भी सूर्य की प्रभा का प्रकाश सर्वथा नहीं रुकता, इसी प्रकार ज्ञान-दर्शन का अंशमात्र तो सभी जीवों के नित्य खुला ही रहता है। जिसके द्वारा यह आवाज आदि से जागृत हो जाता है। प्रमाण के लिए नंदीसूत्र की

निम्न गाथा प्रस्तुत है–

सव्व जीवाणं पि य णं, अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा।
-सुट्ठुवि–मेहसमुदए होइ पभा चंद-सूराणं।

१८२१ प्र.–क्या आत्मा में स्वाभाविक एवं वैभाविक नाम के दो निजी गुण हैं ? यदि हाँ तो सांसारिक जीवों में स्वाभाविक गुण तथा सिद्ध जीवों में वैभाविक गुण परिणमन रूप से है, या कूटस्थ-नित्य रूप से ? तथा दोनों गुण दोनों अवस्थाओं में कैसे रहते हैं ?

उत्तर–व्यंजन-पर्याय, मति आदि जीव के विभाव गुण क्षायस्थिक ज्ञान हैं और स्वभाव गुण व्यंजन-पर्याय केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय रूप है। ये दोनों गुण एक साथ नहीं रह सकते। यानि स्वभाव गुण का प्रकट होना और विभावगुण का नष्ट होना, ये दोनों युगपत ही होते हैं।

१८२२ प्र.–जब परमाणु पुद्गलों में चार मूल स्पर्श ही होते हैं, तो उनसे बने स्कंध में आठ स्पर्श कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर–परमाणु में चार मूल स्पर्श होना भगवती श. १२ उ. ४, श. १८ उ. ६, श. २० उ. ५ आदि से प्रमाणित है। घड़ी के एक-एक पुर्जे में चलने रूप शक्ति नहीं होती, किन्तु सब को यथावस्थित करने से वह समय बताने लग जाती है। सूत के एक धागे में हाथी को बांधने की शक्ति नहीं होती, पर उसके मजबूत रस्से से वह कार्य हो जाता है। इसी प्रकार अनेक परमाणुओं के संयोग से शेष चार स्पर्श उत्पन्न होते हैं।

१८२३ प्र.—पाँच भावों में ध्येय (ध्यान करने योग्य) रूप कौनसा है ?

उत्तर—क्षायिक भाव तो एकान्तिक ध्येय ही है। किसी अपेक्षा से औपशमिक एवं क्षायोपशमिक भाव भी ध्येय रूप हो सकते हैं।

१८२४ प्र.—अर्थावग्रह के लिए ऐसा पाठ है "असंखेज्ज समय पविट्ठा पुग्गला गहण मा गच्छन्ति।" तथा 'उग्गह इक्क समयं' यह भी पाठ है। पदार्थ ज्ञान में प्रथम समय दर्शन होता है, फिर अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह होता है। सिद्धान्त से संगति करते हुए दोनों की स्थिति कितने समय की है, सो फरमावें ?

उत्तर—व्यञ्जनावग्रह की स्थिति असंख्य समयों की है। जघन्य आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण समयों की तथा उत्कृष्ट दो यावत् नौ श्वासोच्छ्वास की है। मिश्र गुणस्थान की भी इतनी ही स्थिति है। यह बात कर्मग्रंथ प्रथम भाग की चौथी गाथा से स्पष्ट होती है। "असंखेज्ज समय पविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छन्ति" यह नंदीसूत्र का पाठ व्यञ्जन अवग्रह के लिए है, तथा "उग्गहं इक्क समयं" यह पाठ अर्थावग्रह के लिए है। जीव को जब चार इंद्रियों (आँख रहित) द्वारा पदार्थ का सामान्य ज्ञान (दर्शन) होता है, तो पहले असंख्याता समय तक व्यञ्जन अवग्रह फिर एक समय का अर्थावग्रह फिर ईहा आदि होती हैं।

१८२५ प्र.—पाँचों इंद्रियों के सामान्य ज्ञान को दर्शन

कहते हैं। इस ज्ञान को मतिश्रुत की भाँति एक साथ ग्रहण न कर चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन ये भेद क्यों किए?

उत्तर–लोक में देखने का व्यवहार नेत्रों द्वारा ही प्रसिद्ध है। शेष इंद्रियों द्वारा नहीं। इसलिए आँख से होने वाले सामान्य बोध को 'चक्षु दर्शन' के नाम से अलग कहा है। शेष चार इंद्रियों व मन के द्वारा देखने का व्यवहार लोक में न होने से उन सब को एक अचक्षुदर्शन में ग्रहण कर लिया है। प्रथम कर्मग्रंथ की दसवीं गाथा के अर्थ से यह बात स्पष्ट होती है।

१८२६ प्र.–पारिणामिक भाव त्रैकालिक है। फिर भव्यत्व जो समस्त जीवों में त्रिकालिक नहीं है, त्रैकालिक कैसे कहा?

उत्तर–समस्त पारिणामिक भाव एकान्त रूप से त्रैकालिक नहीं हैं। पारिणामिक भाव सादि भी होता है। जैसे बादल चंद्र-ग्रहणादि। पारिणामिक भाव अनादि अनन्त भी होता है, जैसे छह द्रव्य, अर्थात् जीव का जीवत्व, धर्मास्तिकाय का उसी रूप में रहना आदि। अभव्य जीवों में अभव्यत्व अनादि-अनंत है। तथा भव्य जीवों में भव्यत्व अनादि-सान्त है। वे सिद्ध बन कर 'नो भव्य नो अभव्य' बन जाते हैं। अतः सभी पारिणामिक भाव त्रैकालिक नहीं होते।

१८२७ प्र.–क्या तिर्यंच पंचेंद्रिय भी समकित लेकर पर-भव से आ सकता है? यदि हाँ, तो अपर्याप्तावस्था में गुण-स्थान कौनसा होता है?

उत्तर–भगवती श. ८ उ. २ आदि से यह स्पष्ट है कि

पचेंद्रिय तिर्यंच परभव से समकित लेकर आ सकता है स्थलचर तिर्यंच पंचेंद्रिय के अपर्याप्त में तो क्षायिक-समकित भी मिल सकती है जो कि पिछले मनुष्य-भव से ही साथ लाई जाती है। उपशम, क्षयोपशम और सास्वादन समकित तो पाँचों ही सन्नी तिर्यंचों के अपर्याप्तों में मिल सकती है। अपर्याप्तावस्था में पहला दूसरा या चौथा, इन तीनों से अधिक गुणस्थान नहीं होते। तद्नुसार तिर्यंच पंचेंद्रिय के अपर्याप्त में भी समुच्चय तीन गुणस्थान हो सकते हैं। जिस जीव के अपर्याप्तावस्था में ज्ञान होता है, वह पर्याप्त होकर ही मरता है।

१८२८ प्र.–कोई मुनि गोचरी गए। वहाँ अकृत्यस्थान का सेवन हो, तो प्रायश्चित्त आता है। क्या उस अकृत्यस्थान को चौथे व्रत संबंधी समझना चाहिए ?

उत्तर–भगवती सूत्र श. ८ उ. ६ में 'अकिच्चट्ठाण' का वर्णन है। वहाँ की टीका इस प्रकार है–'कृत्यस्य करणस्य स्थान माश्रयः कृत्यस्थानम् तन्निषेधोऽकृत्यस्थानम्। मूलगुणादि प्रतिसेवरूपेऽकार्ये विशेषे।" अर्थात् साधु के करने योग्य काम को 'कृत्यस्थान' कहते हैं। जो कृत्यस्थान न हो वह अकृत्यस्थान है। किसी भी मूलगुण या उत्तरगुण में देशतः या सर्वतः दोष लगाना अकृत्यस्थान है, न कि केवल चतुर्थ व्रत के लिए ही। इसका खुलासा व्यवहार भाष्य के प्रथमोद्देशक में भी इस प्रकार दिया है–

"अण्णयरं तु अकिच्चं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूलं व सव्वदेसं, एमेव य उत्तरगुणे सु॥"

१८२९ प्र.—जिस क्षेत्र में किसी मुनि ने चातुर्मास किया हो, वहाँ पुनः कितने समय के बाद आ सकते है ? अमुक अवधि के पूर्व आवे, तो कौनसा दोष व प्रायश्चित्त आता है ? क्या अपवाद मार्ग में दीक्षादि प्रसंग पर आ सकते हैं ?

उत्तर—जिस क्षेत्र में चातुर्मास किया उसी क्षेत्र में वे मुनि एक वर्ष बाद शेषकाल यानि मासकल्प तक रह सकते हैं। दो चातुर्मास निकलने के बाद वर्षा वास भी कर सकते हैं। इसके पहले मासकल्प या चातुर्मास करे, तो आचारांग सूत्र अ. ११ उ. २ के हिसाब से "उपस्थान क्रिया" नामक दोष लगता है। यह बात सुख-शान्ति रहते हुए की है। शारीरिक कारण से तो कभी भी रह सकते हैं। अन्य मुनि की सेवा के लिए या रत्नाधिक के साथ भी रह सकते हैं। इधर-उधर विहार करते वह गाँव रास्ते में आवे, तो या दीक्षा के प्रसंग पर वहाँ एक या दो रात्रि रह सकते हैं। उपरोक्त विधि के अतिरिक्त यदि वहाँ ज्यादा रहे तो निशीथसूत्रानुसार उन्हें लघु-मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१८३० प्र.—भगवती श. ६ उ. ५ में कृष्णराजी के प्रकरण में लोकान्तिक देवों का वर्णन है, वहाँ निम्न पाठ है, सो इसका आशय फरमावें ?

"सारस्सयमाइच्चाणं भंते ! देवाणं कइ देवा कइ देवसया पण्णत्ता, गोयमा ! सत्तदेवा सत्तदेवसया परिवारो पण्णत्तो।"

उत्तर—सारस्वत, आदित्य इन युगल के सात सौ देवों का खास परिवार है और इन देवों पर मालिक रूप सात देव

है। इसी तरह वह्नि-वरुण इस युगल के चौदह हजार देवों का खास परिवार है। तथा चौदह देव स्वामी रूप हैं। गर्दतोय-तुषित इस देवयुगल के सात हजार देवों का खास परिवार व सात देव मालिक रूप है। शेष तीन के नौ सौ देवों का खास परिवार व नौ देव मालिक रूप हैं। खास परिवार से यह आशय समझना कि समवायांग के सत्तहत्तरवें समवाय में गर्दतोय व तुषित के ७७,००० देवों का परिवार बताया है। यह बात ज्ञाता अ. ८ से मेल खाती है। वहाँ प्रत्येक लोकान्तिक देव के ४-४ हजार सामानिक देव, तीन-तीन परिषदा, सात-सात अनीक, सात-सात अनीकाधिपति सोलह-सोलह हजार आत्मरक्षक देव तथा अन्य बहुत से लोकान्तिक देवों से परिवृत्त हैं, इत्यादि वर्णन आया है। इससे उनके दो प्रकार का परिवार साबित होता है। सामान्य परिवार कई हजार देवों का तथा खास परिवार भगवती सूत्रानुसार है। ऐसा समझना चाहिए।

१८३१ प्र.-कृष्णलेशी क्रियावादी जीव मनुष्य के सिवाय अन्य तीन गतियों का आयुष्य क्यों नहीं बांधते हैं?

उत्तर-यह मनुष्यायु बांधना देव व नारक की अपेक्षा बताया है। इसमें मनुष्य व तिर्यञ्च की अपेक्षा नहीं है। जो क्रियावादी मनुष्य-तिर्यञ्च हैं, वे क्रियावादीपने में वैमानिक के सिवाय अन्य आयु नहीं बांधते है। जीव जिस लेश्या में आयुष्य का बंध करता है, उसी में मरता है, तथा उसीमें उत्पन्न भी होता है। वैमानिक में कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ हैं ही नहीं। दूसरी बात यह है कि ये क्रियावादी मनुष्य तिर्यञ्च

भवनपति, वाणव्यन्तर, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्यादि में जहाँ कृष्णादि ३ लेश्याएँ हैं, वहाँ की आयु वांधने का स्वभाव नहीं रखते। फलितार्थ यह हुआ कि जब तक इनमें कृष्णादि ३ लेश्याएँ रहेगी, तब तक ये कहीं का भी आयुष्य नहीं वांधेगें। जब वे लेश्याएँ बदलेगी तब तेजो आदि तीन प्रशस्त लेश्याओं में वैमानिक का आयुष्य बांध सकते हैं। यानि देव व नारक मनुष्य का, तथा मनुष्य व तिर्यञ्च देव का आयुष्य बांध सकते हैं। अतः एकान्त रूप से कहीं का आयु न बांध कर मोक्ष में ही जावें, सो बात नहीं। अक्रियावादी चारों गति का आयुष्य बांध सकते हैं, क्योंकि कृष्णलेश्या चारों गति में हैं।

१८३२ प्र.–पाँच स्थावर व तीन विकलेंद्रिय के समवसरण कितने हैं ?

उत्तर–इनमें अक्रियावादी एवं अज्ञानवादी ये दो समवसरण ही हैं। अन्य दो समवसरण नहीं। अतः इनके सभी बोलों में दो-दो समवसरण ही बतलाए हैं। यहाँ समवसरण का अर्थ 'समूह' से है। भगवान् की परीपदा से नहीं।

१८३३ प्र.–भगवती श. १ उ. २ में–"जीव कुछ आयु को वेदे कुछ को नहीं वेदे" लिखा। इसकी टीका में श्रीकृष्ण-वासुदेव ने पहले सातवीं नरक का, फिर तीसरी नर्क का आयु बांधा, ऐसा लिखा सो कैसे ?

उत्तर–एक जीव एक भव में एक ही गति का आयुष्य बांधता है और सिर्फ एक ही बार। इसका संक्रमण भी नहीं होता। उसे विपाकोदय द्वारा भोगना ही पड़ता है। टीकाकार ने दो

बार दो नर्को का आयु बांधने का लिखा, वह सिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। आयु का बंध एक भव में एक ही वक्त निकाचित होता है, जिसमें घट-बढ़ भी नहीं होती।

१८३४ प्र.–आकर्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर–तथाविध प्रयत्न से कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण करना 'आकर्ष' कहलाता है। आयु-बंध के तीव्र अध्यवसाय से जीव एक ही आकर्ष में पुद्गलों को ले कर आयु बांध लेता है। मध्यम अध्यवसाय से तो दो आकर्ष से, मंदतर हो तो तीन, मंदतम हो तो ४, ५, ६, ७, ८ आकर्ष से आयु बांधता है। आकर्ष अनुक्रम से होते जाते हैं, इसमें अन्तर नहीं होता।

१८३५ प्र.–भगवती श. २५ उ. ६ वर्णित संयम-स्थान व चारित्र-पर्यव इन दोनों में क्या अन्तर है, तथा संयम-स्थान चारित्र की शुद्धि या अशुद्धि की अपेक्षा कहे, तो चारित्र-पर्यव क्यों कहे ?

उत्तर–चारित्र की कम-ज्यादा शुद्धि-अशुद्धि की अपेक्षा से बने हुए भेदों को संयम-स्थान कहते हैं, तथा वे संज्वलन कषाय के मंद, मंदतर तीन कषाय व मंदतम अध्यवसायों के कारण होते हैं। अनंतानुबंधी आदि चौक की १२ कषायों के उदय में तो चारित्र होता ही नहीं। संज्वलन कषाय के उदय में चारित्र मिल सकता है। संज्वलन कषाय की मंदता से जो जघन्य विशुद्धि हुई, वह संयम का प्रथम स्थान है। उससे कुछ विशेष कषाय हटने से विशेष शुद्धि हुई, वह दूसरा स्थान हुआ इस प्रकार जैसे-जैसे कषाय कम होती जाती है, वैसे-वैसे

संयम-स्थान बढ़ते जाते हैं। संज्वलन कषाय के असंख्य स्थान होने से संयम-स्थान भी असंख्य होते हैं। कषायोदय के अभाव वाले यथाख्यात चारित्र का संयम स्थान एक ही है। अतः यह सुस्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों संज्वलन कषाय के अंश हटते जाते हैं, त्यों-त्यों चारित्र के नवीन-नवीन ऊँचे-ऊँचे स्थान प्राप्त होते जाते हैं।

एक-एक संयम-स्थान में अनंत-अनंत पर्यव होते हैं। प्रत्येक संयम-स्थान में जो संयम के गुण हैं, उस गुण का केवल-ज्ञान रूप बुद्धि के द्वारा किया गया छोटे से छोटा खण्ड 'पर्यव' कहलाता है। ऐसे अनंत-अनंत पर्यव एक-एक संयम स्थान में होते हैं। यानि गुण के अविभागी अंश को 'पर्यव' कहते हैं। ज्यों-ज्यों संयम-स्थान ज्यादा विशुद्ध होगा, त्यों-त्यों उसके पर्यव भी ज्यादा होंगे। इसलिए निर्ग्रंथ, स्नातक यथाख्यात चारित्र का संयम-स्थान तो एक है, पर पर्यव सब की अपेक्षा अनंत गुणे अधिक हैं।

१८३६ प्र.—कषाय-कुशील, पुलाक, बकुश एवं प्रतिसेवना-कुशील, इनमें से कौन तीर्थ में ही होते हैं, विना तीर्थ के नहीं?

उत्तर—कषायकुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक, ये तीनों ही (निर्ग्रंथ) दोष-रहित संयम वाले होते हैं, शेष पुलाकादि तीनों सदोष संयम वाले होते हैं।

अतीर्थ में होने वाले साधु या तो तीर्थंकर होते हैं, या प्रत्येकबुद्ध। ये विना किसी के उपदेश से ही संयम प्रवृत्ति करते हैं, तो वे उन दोष-रहित कषाय-कुशील आदि तीनों में

उत्तर–तान, स्वर, मूर्च्छना आदि से संयुक्त गायन बनावे या गावे, तो निशीथ उ. १७ के अनुसार लघु-चौमासी प्रायश्चित्त बताया है। सामान्य गायन के लिए नहीं। जैसाकि-गाहाणुगीया नरसंघमज्झे–उत्तरा अ. १३ में बताया गया है।

१८४१ प्र.–यदि कोई साधु-साध्वी अपनी उपधि ठाणापति साधु-साध्वी को सुपर्द कर विहार करे तथा वापस आवे तो ठाणापति के शय्यातर का घर फरस सकते हैं, या नहीं?

उत्तर–चूंकि वह विहार करने वाले साधु-साध्वियों का शय्यातर नहीं है, अतः फरस सकते हैं।

१८४२ प्र.–क्या वैक्रिय-शरीर से आंसू आते हैं? तथा क्या अप्रमत्त को आर्त्तध्यान होना संभव है?

उत्तर–वैक्रिय-शरीर धारियों को आंसू तो नहीं आते, पर आंसू जैसी स्थिति दिखाई दे सकती है। वैक्रिय पुद्गल औदारिक से तो भिन्न प्रकार के हैं। उदासीनता से देवों के भी आर्त्तध्यान ही गिना जाता है। अप्रमत्त के आर्त्तध्यान नहीं होता, पर रोगादि कारण आंखों में आंसू आ सकते हैं।

१८४३ प्र.–क्या अनुत्तर विमानवासी देव स्थावर नाली देखते हैं?

उत्तर–अनुत्तर विमान वाले स्थावर नाली नहीं देखते ऐसी संभावना है •।

• यद्यपि स्थावर जीव सर्वत्र हैं, तथापि त्रसनाली से बाहर क्षेत्र किस शब्द से पुकारा जाय, इसकी सुविधा के लिए त्रसनाली अतिरिक्त लोक का शेष भाग 'स्थावरनाली' कहा गया है—सं.

१८४४ प्र.–यदि साधु-साध्वी के हाथ से दिन में दो चार बार पुस्तक, पेंसिल आदि गिर जाय तो अयतना का प्रायश्चित्त एक ही लेते हैं या जितनी बार गिरे उतनी बार?

उत्तर–समुच्चय रूप से तो संध्याकालीन प्रतिक्रमण के बाद ही प्रायश्चित्त लिया जाता है। वैसे "मिच्छामि दुक्कडं" तो गिरते वक्त ही दे देना चाहिए।

१८४५ प्र.–क्या धुंगारे हुए कैर साधु ले सकते हैं? क्योंकि उसमें डाला गया जीरा नमक आदि पूर्ण अचित्त न होने की शंका रहती है?

उत्तर–प्रश्न-कथित वस्तु की अचित्त होने न होने की पूरी गवेषणा साधु को कर लेना योग्य है। प्रायः भीगे हुए कैरों से नमक का पानी बन जाता है तथा उस नमक तथा कैरों के स्पर्श से जीरा भी थोड़ी देर में अचित्त हो जाता है।

१८४६–गर्म पानी में रखी या चूल्हे पर थोड़ी देर के लिए रखा दाख का रायता साधु के लिए भोग्य है या नहीं?

उत्तर–गर्म पानी या अग्नि से दाख अचित्त होने की संभावना है, अतः वह लिया जा सकता है।

१८४७–वहियों में "श्री गौतमस्वामीजी महाराज नी लबध छे" आदि वाक्य लिखना उचित्त है या नहीं?

उत्तर–अन्य तीर्थिकों के सरागी देवों के नाम की बजाय ऐसा करना जैनियों के लिए शोभनीय है *।

---

* मैं भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया करता हूँ। सं.–

१८४८ प्र.–दस प्रकार के मिथ्यात्व में धर्म को अधर्म मानने का तथा मोक्ष-मार्ग को संसार-मार्ग मानने का कहा जाता है सो धर्म तथा मोक्ष-मार्ग में क्या अन्तर है?

उत्तर–अधर्म को धर्म समझने का अर्थ है–मिथ्या शास्त्रों को सम्यक्-शास्त्र मानना। इसमें आगम की अपेक्षा कथन है। तथा अमार्ग को मार्ग समझने का अर्थ है कि मिथ्या श्रद्धा, ज्ञान तथा आचरण को सम्यक् समझना। इसमें ज्ञानादि तीनों की अपेक्षा है। इन चारों भेदों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए परिभाषाएँ लिखी जाती हैं–

(१) धर्म को अधर्म श्रद्धा हो–परम मान्य सर्वज्ञ-कथित सूत्रों को मिथ्या समझा हो, उनको कल्याणकारी न माना हो।

(२) अधर्म को धर्म श्रद्धा हो–राग एवं विषय वासना-वर्द्धक ऐसे मिथ्या श्रुतों को ही भगवान की वाणी समझी हो †।

(३) मोक्षमार्ग को संसारमार्ग समझा हो–ज्ञान, दर्शन,

---

† कुत्सित ज्ञानियों एवं मिथ्यादृष्टियों द्वारा अपनी स्वच्छंद आचारहीन बुद्धि कल्पना के सहारे खड़े किए गए शास्त्र मिथ्या श्रुत है। सैलाना से प्रकाशित एवं पं. मुनि श्री पारसमुनिजी द्वारा अनुवादित नन्दी सूत्र पृ. ३७५ से ३७६ तक मिथ्या श्रुतों के नाम एवं संक्षिप्त विवेचना दी गई है। पाठकों को यह स्थल देख कर सम्यक्श्रुत की ओर उन्मुख होना चाहिए। आजकल जिन भगवंतों के निर्ग्रंथ-प्रवचन का पाठन दिन-बदिन कम होता जा रहा है तथा उसका स्थान लौकिक साहित्य ले रहा है। जिनवाणी को मनोयोग पूर्वक पढ़ कर सभी धर्मप्रेमी पाठक स्वपर हित करेंगे तभी धर्म एवं श्रुत प्रभावना संभव है।

चारित्र, तप आदि की मखौल उड़ाई हो, उसे बहुमान्य न समझ कर संसार का हेतु समझा हो।

(४) संसारमार्ग को मोक्षमार्ग समझा हो-संसार बढ़ाने वाले लौकिक अनुष्ठानों को (यज्ञादि) मोक्ष का हेतु समझा हो।

१८४९ प्र.-श्रावक के १२४ अतिचार कौनसे हैं?

उत्तर-समकित के पाँच, कर्मादान सहित बारह व्रतों के पिचहत्तर, संलेखना के पाँच, कालेविणए आदि आठों का पालन न करने से आठ, निस्संकिए, निकंखिए आदि के आठ, समिति-गुप्ति का ध्यान न रखने से आठ, तप के बारह, वीर्य के तीन (मन, वचन, काया की शक्ति छुपाने से) ये ५+७५+५+८+८+८+१२+३ = १२४ अतिचार हुए ×।

१८५० प्र.-क्या परिहारविशुद्धि चारित्र में जिनकल्प हो सकता है?

उत्तर-हाँ, हो सकता है। जब प्रश्नांकित चारित्र धारण करने वाले बाकी के साधु काल कर गए हों तथा पीछे अकेला साधु ही हो, तो वह परिहारविशुद्धि के नियमों को नहीं छोड़ता हुआ जिनकल्प के नियमों को भी धारण कर लेता है।

१८५१ प्र.-निर्ग्रंथ व स्नातक के पर्यव तुल्य होते हुए भी उनमें वर्द्धमान परिणाम कैसे कहे गए हैं?

उत्तर-निर्ग्रंथ में छद्मस्थ से केवली बनने रूप वर्द्धमान

× साधुजी के १२५ अतिचार समर्थ समाधान भाग १ पृ. ७२ प्रश्न ११७ के अन्तर्गत है। मुमुक्षुओं को देखने चाहिए।

परिणाम है तथा स्नातक में सयोगी से अयोगी बनने का वर्द्धमान परिणाम है। अतः संयम-स्थान एक तथा पर्यव तुल्य होते हुए भी उनमें वर्द्धमान परिणाम माना गया है।

१८५२ प्र.– क्या अयोगी अवस्था में आत्म-प्रदेशों का कंपन होता है?

उत्तर–अयोगी अवस्था में आत्म-प्रदेशों का कंपन नहीं होता है। योग-निरोध करते समय प्रदेश घनरूप बन जाते हैं। दूसरे कर्मग्रंथानुसार शुक्लध्यान के तीसरे पाए में योगनिरोध होता है।

१८५३ प्र.–क्या मृत्यु समय में क्रोड़ाक्रोड़ गुणी वेदना होती है? जब आत्मा अरूपी है, तो भला उसे दुःख क्यों होता है?

उत्तर–जन्म के समय की वेदना से क्रोड़ाक्रोड़ गुणी वेदना मरते समय होती है। यह कथन किन्हीं-किन्हीं जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए। सुख का स्थान छूटने की चिन्ता के कारण तथा असाता-वेदनीय के कारण ऐसा होता है। गजसुकुमारजी आदि की भांति किन्हीं को चौदहवें गुणस्थान में भी असाता-वेदनीय कर्मजन्य वेदना हो सकती है।

१८५४ प्र.–कषायकुशील समिति-गुप्ति में स्खलना कर सकता है, अशुद्ध आहार एवं वनस्पत्यादि का संघट्टा हो सकता है, फिर भी वह अप्रतिसेवी कैसे कहा गया?

उत्तर–कषायकुशील छठे गुणस्थान में रहता हुआ भी शुभ योग की अपेक्षा अप्रतिसेवी कहा गया है। सावधानी

रखते हुए भी अशुद्ध आहार आ जाय या संघट्टा हो जाय तो भी उनके विचार दोष लगाने के नहीं होने से अप्रतिसेवी कहा गया है।

१८५५ प्र.–पद्म-लेश्या के रस को शराब के समान क्यों बताया है। वैसे ही कवल को मुर्गी के अण्डे के बराबर आदि कहना किस प्रकार उचित है ?

उत्तर–पद्म लेश्या का रस, कवल-प्रमाण आदि के लिए जिन शब्दों का प्रयोग सर्वज्ञों ने किया है, वह अन्य सब शब्दों को तथा इन पर उठने वाली शंकाओं को जानते ही थे। तथापि दूसरे शब्दों पर भी अन्यान्य शंकाएँ हो सकती हैं। अतः ज्ञानी जिन शब्दों को ठीक समझते हैं, उन्हें ही देते हैं * ।

---

* २० ओक्टोबर ६३ पृ. ५१९ के सम्यग्दर्शन में 'पद्म लेश्या का रस' नामक सुन्दर लेख पाठकोपयोगी समझ कर यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। इससे पाठक सहज ही सभी संशयों का निवारण कर सकेंगे;—

"१ यह तो स्पष्ट है कि उदाहरण एकदेशीय होता है। किसी अज्ञात वस्तु की विशेषता समझाने के लिए, समान विशेषता वाली किसी प्रसिद्ध एवं ज्ञात वस्तु को बताना उदाहरण है। प्रायः अदृश्य वस्तु को समझाने के लिए दृश्यमान वस्तु का उदाहरण दिया जाता है। आगम में साधुओं के आहार में कवल का परिमाण बताने के लिए मुर्गी के अण्डे का उदाहरण दिया है, २ ज्ञातासूत्र में सुसुमा के शव का उदाहरण, अनासक्त आहार का अजोड़ उदाहरण है, ३ अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के ऊर्ध्व गमन स्वभाव को बताने के लिए अत्यन्त तुच्छ ऐसी तुम्बी का उदाहरण ४ सिद्ध भगवान् के सुखों को समझाने के लिए, जंगली असभ्य मनुष्य के शब्दादि विषयभोग की वर्णनातीतता का उदाहरण और ५ मुक्ति को

४ धर्म के लिए धर्म की ही उपमा मिलना संभव नहीं लगता। उपमा श्रोता की जानी, देखी एवं सुनी तथा लोक में प्रचलित वस्तु की दी जाती है। मोक्ष के परम सुख के लिए जंगली के वैषयिक सुख की उपमा शास्त्र में आई ही है—जो कि सर्वथा अधर्म—पापयुक्त किया है।

सूत्रकार का आशय मात्र पद्मलेश्या के रस की साम्यता बतलाने का है। इससे विपरीत या अगलबगल जाना उचित नहीं है। श्री कृष्ण की गुण ग्राहकता के उदाहरण में सड़ी हुई कुतिया के दांत का उदाहरण आता है। उस उदाहरण में दाँतों की स्वच्छता अखण्डता और सुन्दरता की ही प्रशंसा है। यदि कोई इस सीमा को लांघ कर उसकी सड़ी और कीड़े पड़ी हुई देह की प्रशंसा तक ले जाय, तो दुर्गुण प्रशंसा का दूषण आ जाता है। अतएव दृष्टांत का उपयोग उसकी मर्यादा के भीतर ही होना चाहिए।

प्राचीन साहित्य में तो ऐसे उदाहरणों की भरमार है। आचार्यों ने अपनी रचनाओं में ऐसी-ऐसी उपमाएँ दी हैं, जो अतिशयोक्ति पूर्ण लगती हैं। समृद्ध एवं भव्य नगरियों को नवयुवती सुन्दरी की उपमा बड़े अलंकारिक ढंग से दी गई है। ऐसी उपमाओं से आगमोक्त उपमाएँ अच्छी ही हैं। यदि धर्म-तत्त्व समझाने में सांसारिक उपमाओं का उपयोग नहीं किया जाय, तो कदाचित् उपमा का अस्तित्व ही जैन साहित्य में नहीं रहे। निवृत्तिपरक धर्म को समझाने के लिए प्रवृत्तिपरक—संसारी उपमा ही देनी पड़ती है।

५ उपमा, रस की अपेक्षा से दी गई है, पवित्रता-अपवित्रता की अपेक्षा नहीं। यदि कोई विपरीत दृष्टिवाला उनका अनर्थ कर के अनाचार सेवन करने लग जाय, तो यह उनका खुद का दोष है। प्रश्नकार ने भी उसे 'भ्रान्ति' माना है। ऐसी भ्रान्ति किसी को हो और वह सरल प्रकृति का हो, तो पूछ कर समाधान कर सकता है। भ्रान्ति के भय से उपमा ही नहीं देना अथवा दूसरी घटिया उपमा (जो मुख्य धर्म की उतनी समानता नहीं कर सके) देना उचित नहीं है।

६ तपास करने पर पता चला कि मदिरा, मधुर भी होती है। बनाते समय तो उसमें तीक्ष्णता ही रहती है, किन्तु बना लेने पर उसमें मिश्री आदि मिला कर मीठी कर के बोतलें भरी जाती है। यह भी मालूम हुआ कि अंग्रेजी शराब ऐसी भी आती है कि जिसका स्वाद, बाजार में मिलती हुई गुलाब आदि के शरबत के समान मीठा है। यह भी मालूम हुआ कि ऐसी मदिरा यहाँ ऐसे दो व्यक्तियों को शरबत कह कर पिलाई गई थी–जिन्होंने जीवन में कभी मदिरा नहीं पी थी और जो मदिरा से परहेज करते थे। उन्होंने भी शरबत समझ कर ही पी, और रंग तथा स्वाद भी उसका शरबत के समान था। जब उनके सामने रहस्य खुला, तब झगड़ा हो गया।

आसव मीठे भी होते है और कटुतादि स्वाद युक्त भी। कुमार्यासव में मधुरता के साथ कटुता अधिक होती है और द्राक्षासव में मधुरता अधिक है, फिर भी तीक्ष्णतादि तो है।

पद्मलेश्या शुभलेश्या है। पूर्व की लेश्याओं से यह विशेष शुभ, मधुर एवं प्रशस्त है। साधु-श्रावक की अपेक्षा ही यह धर्म-लेश्या है। देवलोक में तीसरे देवलोक से लगा कर पाँचवें देवलोक तक के देवों मे यही लेश्या है और असंयत अविरत, मनुष्य एवं संज्ञी तिर्यंच में भी यह पाई जाती है, और मिथ्यादृष्टि में भी। किन्तु ये धर्मी नहीं हैं। उन देवों के यहां देवांगनाएँ नहीं होती, फिर भी वे विषयातीत नहीं, किन्तु विषयी हैं। उनमें शब्द रूप रस और स्पर्श सम्बन्धी परिचारणा है। वे मनुष्य तिर्यंच भी त्यागी नहीं, किंतु भोगी हैं। अतएव पद्म या शुक्ल-लेश्या को धर्म-युक्त तो त्यागियों की अपेक्षा ही कहा गया है—सभी दृष्टियों से नहीं।

७ यह ठीक है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में इससे भी बढ़ कर अनेक उपमाएँ थी, किन्तु वे सब किस काम की ? जिन श्रोताओं को समझाना है, उनकी जानी-मानी पहिचानी उपमा ही उनके लिए उपयोगी हो सकती है। ऐसी बढ़िया उपमा भी किस काम की कि जिन्हें श्रोता समझ ही नहीं सके। अतएव सर्वज्ञ वे ही उपमा देते हैं कि जिनसे श्रोतागण समझ सकें—डोडी

१८५६ प्र.–उत्तराध्ययन अ. १२ में. हरिकेशी अणगार को जब यज्ञशाला के ब्राह्मणों ने जाने का कह दिया, तो वो क्यों खड़े रहे तथा आहारादि क्यों लिया ?

उत्तर–गाथा ७ में लिखा है–'गच्छक्खलाहि किमिहं ठिओसि ।' यानि क्यों खड़ा है, निकल जा चला जा । ऐसे तिरस्कार युक्त वचनों को सुन कर क्या हुआ सो गाथा ८ में लिखा है;–

"जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी, अणुकंपओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता णियगं सरीरं, इमाइं वयणाइमु दाहरित्था ॥"

उस समय उस महामुनि पर अनुकंपा करने वाला तिंदुक वृक्ष वासी (व्यन्तर) यक्ष अपना शरीर प्रछन्न कर (छुपा कर) यानि मुनि के शरीर में प्रवेश करके ये वचन कहने लगा ।

इस गाथा से समझना चाहिए कि वह देवता मुनिजी के शरीर में प्रवेश कर गया तथा आगे का काफी वार्तालाप उसके द्वारा हुआ है । जब उसने देखा कि अबोध बालक मुनि को पीट रहे हैं, तो उसने उनकी मरम्मत की । अतः हरिकेशी अपनी इच्छा से खड़े नहीं रहे थे । देव के शरीर में आने पर मानव की शक्ति नहीं चलती । अर्जुन माली की इच्छा तो सिर्फ छ गोठीले पुरुषों को ही दण्ड देने की रही होगी, लेकिन देवाधीन होकर उसने पाँच महीना तेरह दिन तक नित्य छः पुरुष व एक स्त्री, इस प्रकार सात जीवों की घात की ।

१८५७ प्र.– उत्तरा. अ. १२ गाथा २१ में "मणसा वि झाया" हरिकेशी ने भद्रा को मन से भी न चाहा–ऐसा भद्र

का कथन प्रामाणिक कैसे हो सकता है ? क्या वह मन की बात जानती थी ?

उत्तर–राजा तो भद्रा को देने के लिए तैयार ही थे। परन्तु मुनिराज ने उसे स्वीकार नहीं किया, तथा तिरस्कार ही किया। तब भद्रा ने यह सहज ही समझ लिया कि ये मुझे मन से भी नहीं चाहते हैं, क्योंकि यदि इनका मन होता तो बाधा ही क्या थी ? ये मुझे ग्रहण कर सकते थे।

१८५८ प्र.–क्या साधुओं की भांति श्रावकों को भी 'आवस्सही' आदि कहना तथा चउवीसंथव करना चाहिए।

उत्तर–दया, पौषध आदि में श्रावक को बाहर जाते 'आवस्सही' तथा आते समय 'निस्सही' कहना चाहिए तथा सामायिक लेते, पालते, प्रतिक्रमण करते तथा सौ कदम के बाहर परठने के लिए जाते हुए चउवीसंथव अवश्य करना चाहिए। वैसे कहीं भी जा कर घर आया हो, तो भी चउवीसंथव करने में बाधा नहीं।

१८५९ प्र.–क्या बर्फ अनन्तकायिक है ?

उत्तर–बर्फ में जो अप्काय के जीव हैं, वे प्रत्येककाय वाले तथा निगोद के जीव अनन्तकायिक हैं। रात्रि-भोजन के त्याग वाले को बर्फ का पानी नहीं पीना चाहिए। बर्फ के टुकड़ों पर रंग डाले जाने पर भी मिश्रित की शंका बनी रहती है।

१८६० प्र.–क्या आयंबिल में छाछ ले सकते हैं ?

उत्तर–आयंबिल में गाय वगैरह की छाछ भी काम में नहीं आ सकती। क्योंकि आयंबिल में नमक के साथ-साथ

अम्लिल-अम्ल-खट्टे पदार्थों के उपयोग की भी मनाई है।

१८६१प्र.–लोहे की सीखचों (ताड़ियों) वाली छोटी-बड़ी फाटक, जालियों वाली फाटक, गेट आदि को साधुजी बिना आज्ञा खोल सकते हैं, या नहीं ?

उत्तर–जिन घरों में साधु-समाज पर विश्वास हों, जो धार्मिक प्रवृति वाले हों, तथा जहाँ साधुओं के आने पर प्रतिबंध न हो, उन घरों की छोटी-बड़ी फाटक बाहर वालों की आज्ञा से खोल सकते है तथा एक बार आज्ञा हो जाने पर अन्य समय में बिना आज्ञा भी खोल सकते हैं।

१८६२ प्र.–जिस मकान में अंधकार ज्यादा हो तथा स्वाभाविक रूप से दिन को भी बत्ती जलती हो, वहाँ से आहार-पानी लिया जा सकता है, या नहीं ?

उत्तर–जिन घरों में स्वाभाविक पहले से ही बत्ती लगी हुई हो, वहाँ आहार-पानी के लिए जाने में कोई बाधा नहीं। साधु को आहार देने के लिए बत्ती जलाई हो, तो लेने का प्रश्न ही नहीं, वैसे चूल्हे भी जलते ही हैं।

१८६३ प्र.–दशवैकालिक अ. ५ उ. १ गाथा ४७ से ५४ तक में आए 'दाणट्ठा, पुण्णट्ठा, वणीमट्ठा, समणट्ठा' आदि शब्दों के अर्थ फरमावें ?

उत्तर–उन शब्दों के अर्थ इस प्रकार ध्यान में आए है–
दाणट्ठा–दानार्थ, अपनी प्रशंसा के लिए श्रमण (शाक्यादि) वनीपकों को दिया जाय वह 'दानार्थ' कहलाता है।

पुण्णट्ठा–पुण्यार्थ, प्रशंसा के भावों के बिना मात्र पुण्य के

लिए श्रमण वनीपकों को दिया जाय, वह 'पुण्यार्थ' कहलाता है।

वणीमट्ठा-वनीपकार्थ-(याचकों के लिए) जो मात्र याचक, भिखारी आदि के लिए ही दिया जाय, वह 'वनीपकार्थ" कहा जाता है।

समणट्ठा-श्रमणार्थ-बौद्धादि अन्य मतावलम्बियों को ही या शाक्य आदि को ही देने के लिए हो, वह 'श्रमणार्थ' है। अतः पुण्यार्थ व श्रमणार्थ में जो साधु कहे हैं, वे एक ही हैं, किन्तु देने वाले की भावना में अन्तर है ×।

१८६४ प्र.-क्या मनुष्यों की भांति युगलिक तिर्यंच के भी एक ही युगल उत्पन्न होता है, तथा वह भी युगलिक ही होता है ?

उत्तर-हाँ, युगलिक तिर्यंच के भी एक ही युगल जन्म लेता है तथा संधिकाल न हो, तो युगलिक ही होता है।

१८६५ प्र-.उत्तराध्ययन अ. १ गाथा ५ में साधु को मृग की उपमा कैसे दी है ? यहाँ तो सुअर व कुतिया की उपमा का मिलान है।

उत्तर-बीकानेर से प्रकाशित उत्तराध्ययन सूत्र में गाथा ५ का अन्वयार्थ व भावार्थ इस प्रकार दिया है जैसे (सूयरो) सूअर (कणकुंडगं) चावल के कुण्डे को (चइत्ताणं) त्याग कर

× मात्र श्रमण शब्द का व्यवहार अन्य मतावलम्बियों के लिए होता है। साधु के लिए श्रमण-निग्रंथ विशेषण लगता है। ग्रंथ का अर्थ गांठ होता है। जो बाह्य एवं आभ्यन्तर मोह, लोभ, कपट आदि की गांठों से रहित हैं, वे "समण निग्गंथ" कहे जाते हैं।

(विट्ठं) विष्ठा, (भुंजइ) खाता है (एवं) इसी प्रकार (मए) मृग के समान अज्ञानी साधु भी (सीलं) शील-सदाचार को (चइत्ताणं) त्याग कर (दुस्सीले) दुःशील यानि दुष्ट आचार में (रमइ) प्रसन्न रहता है। भावार्थ में लिखा है यहाँ अविनीत साधु को मृग की उपमा दी है। जैसे मृग तृण-घास आदि के प्रत्यक्ष सुख को देखता है, किन्तु पास रहे बंधन, मृत्यु दुःखों का विचार नहीं करता इसलिए अविनीत साधु मृग के समान अज्ञानी है।

यहाँ संयम प्रवृति में ठीक नहीं होने से साधु को ही मृग (भोला, अनजान) पद से संबोधित किया है।

१८६६ प्र.—क्या साधु औषधि ले ही नहीं सकते हैं?

उत्तर—स्थविरकल्पियों द्वारा निर्दोष एवं निरवद्य ग्रहण करना निशीथ सूत्र से सिद्ध है। उत्तराध्ययन अ. २ गाथा ३३ के भाव जिनकल्पियों तथा अभिग्रहधारियों की अपेक्षा है। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के शैलक अध्ययन में स्थविरकल्पी शैलक राजर्षि के औषधोपचार का वर्णन है। अतः निरवद्य औषधि साधु ग्रहण करते हैं।

१८६७ प्र.—यदि कोई साधु पसीना पोंछे या मैल उतारे, तो वह परीषहजयी कैसे समझा जाय?

उत्तर—पसीने के बूंद गिरने पर तथा जुआदि से बचने के लिए जो पसीना पोंछा जाता है, वह परीषह-जय में ही गिना जाता है।

१८६८ प्र.—क्या तप के द्वारा निकाचित कर्म भी टूटते हैं?

उत्तर–स्थानांग दसवें ठाणे में निकाचित कर्मों का क्षय होना तपादि से संभव बताया है। बुखार में वेदना की अधिकता से आहार नहीं किया जाता तथा तपस्या में रुचि होते हुए भी आहार नहीं किया जाता। इस प्रकार रोगादि से हो या तपश्चर्या से उन कर्मों का विपाक वेदन तो अवश्य ही हो जाता है। इस विषय में दो उदाहरण दिए जाते हैं, जिनसे बात स्पष्टतया समझ में आ जायेगी (१) यों तो कुनैन की गोली खारी होती है, लेकिन उस पर किसी मीठे पदार्थ का लेप कर दिया जाय, तो वह खारी भी नहीं लगती। तथा पेट में जा कर अपना असर भी दिखा देती है। इसी प्रकार तपस्या में आहार न करना एक अद्भुत आनंद देता है, जबकि ज्वरादि से पीड़ित आहार न करे, तो स्व-पर के लिए चिन्ता का विषय होता है।

(२) मान लीजिए किसी को नमक सेवन करना जरूरी हो गया। अब यदि वह यों ही खाए, तो मुँह भी खारा हो जाय तथा खाया भी न जा सके। लेकिन यदि वही नमक छाछ में मिला कर सेवन कर लिया जाय तो वह नमक तो पेट में पहुँच जाता है, साथ ही छाछ भी स्वादिष्ट बन जाती है। इस तरह कुनैन व नमक दोनों पेट में पहुँच जाते हैं, तथा उनका निकाचितपना पूरा हो जाता है। इस तरह क्षुधा, वेदना, आदि सहन तो करने ही पड़ते हैं, पर उनके साथ यदि समता एवं शांति रखी जाय तो महालाभ का कारण हो जाता है।

१८६६ प्र.–क्या एकासन में कच्चा जल पी सकते हैं?

उत्तर—उत्कृष्ट रूप से सातवां व्रत ग्रहण करने के लिए भी कच्चे पानी आदि का निषेध है, फिर एकासन, उपवास आदि में तो सचित्त जल का त्याग करना ही चाहिए। तथा टीकाओं में सचित्त जल पीने की मनाई की है।

१८७० प्र.—मारणांतिक समुद्घात करने वाले सब जीव समवहत ही मरते हैं या समुद्घात से निवृत होकर भी मरते हैं?

उत्तर—मारणांतिक समुद्घात करने वाले जीव के रूचक-प्रदेश उसी दशा में बाहर निकलते हैं, जब जीव का मरण समवहत हो। जिसके रूचक-प्रदेश बाहर न निकले हों, वह दोनों मरण से मर सकता है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि केवली-समुद्घात के अलावा बाकी की छहों समुद्घातों में यदि रूचक-प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाय तो पुनः प्रवेश नहीं होता है। अतः मारणांतिक-समुद्घात में रूचक प्रदेश बाहर निकलने के बाद वे जीव समवहत ही काल करते हैं। जिनके रूचक-प्रदेश बाहर न निकले हों, उनके लिए यह नियम नहीं है।

१८७१ प्र.—आत्मा के साथ कर्मों का संबंध कैसा है?

उत्तर—आत्मा के साथ कर्मों का तादातम्य संबंध नहीं है। उत्तराध्ययन अ. ९ गाथा २२ में "भित्तूणं कम्म-कंचुयं" कर्मों को कवच (बख्तर) के समान बताया है। जिस प्रकार कवचधारी पर साधारण प्रहार असर नहीं करता, उसी प्रकार कर्म रूपी कवच से सज्जित आत्मा को साधारण प्रतिबोध असरकारक नहीं होता। या जिस प्रकार लोहे के तृप्त गोले

में अग्नि होती है, उसी प्रकार आत्मा के हर प्रदेश पर कर्म-वर्गणा लगी हुई है। जिस प्रकार आँख के आगे कपड़े के एक दो यावत् अनेक पट आ जाने से देखने की शक्ति मंद हो जाती है, उसी प्रकार कर्म-पटल आ जाने से आत्मा के ज्ञानादि गुण रुक जाते हैं।

१८७२ प्र.–सांसारिक सुख को सुख नहीं मानना कैसे ठीक है ?

उत्तर—सांसारिक सुख क्षणिक, अस्थाई तथा अनेक बाधाओं वाले होते हैं, तथा फलस्वरूप दुःख की प्राप्ति कराते हैं। अतः उसे सुख का आभास मात्र समझना चाहिए। जैसे—लोग खाने में सुख मानते हैं, किन्तु उसी रुचिकर भोजन को अधिक मात्रा में खाने से व्याधियाँ तथा प्राणान्त तक हो जाता है। वस्त्राभूषण सुख के हेतु समझे जाते हैं, लेकिन कभी-कभी वे जानलेवा बन जाते हैं। वास्तव में सांसारिक सुख निराबाध (बाधा-रहित) नहीं है। जो सुख बाधाओं वाला व नश्वर हो, वह दुःख रूप ही है। यथा–

चढ उत्तंग जहाँ से पतन, शिखर नहीं वह कूप ।
जिस सुख अंदर दुःख बसे, वह सुख भी दुःख रूप ॥

१८७३ प्र.–जाजम के दूसरे किनारे पर पानी का लोटा पड़ा हो, तो इस किनारे पर वहराने वाले का पैर लग जाने से संघट्टा भी पूरा नहीं होता, तो उसे असूजता क्यों माना जाता है ?

उत्तर–न्याति से बाहर वाले के साथ भी कितनी ही जाजम

हो, एक साथ नहीं बैठा जाता, लेकिन जमीन पर तो पास-पास भी बैठ सकते हैं। इसी प्रकार वस्त्र से वह स्पर्शित होता ही है। अतः संघट्टा टालना ही योग्य है।

१८७४ प्र.—बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्गल लिए बिना विकुर्वणा कैसे की जाती है?

उत्तर—पानी, तेल आदि बाह्य पुद्गलों को लेकर शरीर को संस्कारित करना बाह्य पुद्गल परिदाय विकुर्वणा कहलाती है। थूक आदि आभ्यन्तर पुद्गलों से शरीर संस्कार करना आभ्यन्तर पुद्गल परिदाय विकुर्वणा कही जाती है। जिस विकुर्वणा में दोनों प्रकार के पुद्गलों की आवश्यकता नहीं रहती, उसे "बाह्य-आभ्यन्तर पुद्गल अपरिदाय विकुर्वणा" कहते हैं। जैसे-केश संवारना आदि।

१८७५ प्र.—कषायकुशील को अप्रतिसेवी क्यों कहा है, जब कि इसके पर्यव पुलाक के साथ भी 'षट स्थान पतित' है?

उत्तर—कषायकुशील को तो शास्त्रों में अप्रतिसेवी बताया ही है (विशेष जानने के लिए १८५४ वें प्रश्न का उत्तर देखिए) पुलाक की बजाय कषाय-कुशील के संयम पर्यव षट-स्थान पतित हो सकते हैं। यानि कषाय-कुशील के पर्यव अनंतगुणहीन हो सकते हैं उदाहरणार्थ—नवदीक्षित की अपेक्षा से कषाय-कुशील के संयम पर्यव विशेष संगृहीत न हों। तथा पुलाक तो कषायकुशीलपूर्वक होने से (नववें पूर्व तक पहुँचा हुआ होने से) बहुत संयम-पर्यव वाला होता है। यद्यपि पुलाक कषायतीव्रता से संयम-पर्यवों को नष्ट कर देता है, फिर स्थिति

की अल्पता के कारण नए कषाय-कुशील से अनंतगुणे संयम-पर्याय रह सकते हैं। फिर भी कषाय-कुशील निर्दोष होने से अप्रतिसेवी तथा पुलाक बहुत संयम पर्यव वाला होकर भी सदोष होने से प्रतिसेवी होता है, पुलाक बहुत संयम-पर्यव वाला होकर भी सदोष होने से प्रतिसेवी माना गया है। जैसे एक आज का जन्मा स्वस्थ शिशु है। दूसरी ओर एक बीस वर्ष का पहलवान है, जो लम्बी बिमारी से सारी शक्ति खो चुका है। उस पहलवान की शक्ति कितनी ही कम क्यों न हो, आज के नवजात शिशु से तो अधिक ही है। किन्तु जब सरोग-निरोग का प्रश्न होगा, तो बालक की गणना स्वस्थ में होगी। वह पहलवान रोगी की श्रेणी में गिना जाएगा। इसी तरह से जहाँ संयम के पज्जवों की पृच्छा होगी, वहाँ पुलाक का स्थान होगा तथा अप्रतिसेवना की पृच्छा में पुलाक प्रतिसेवी कहा जाएगा, कषाय-कुशील, अप्रतिसेवी कहा जाएगा।

१८७६ प्र.—आहारक-लब्धि फोड़ने वाला बिना आलोचना आराधक क्यों नहीं हो सकता है?

उत्तर—आहारक लब्धि फोड़ने वाले के लिए शास्त्रों में "सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए" कहा है। उसमें तीन, चार या पाँच क्रियाएँ तक बताई हैं। आरंभिकी क्रिया लगने से तो स्पष्ट है कि उससे लब्धि फोड़ने में जीव-हिंसा तक हो जाय। तथा प्रमाद के कारण ही लब्धि-स्फोटन होता है। अतः बिना आलोचना के उसे आराधक नहीं माना जा सकता।

१८७७ प्र.–क्या उपादान के समक्ष निमित्त गौण है?

उत्तर–वैसे तो निमित्त की अपेक्षा उपादान को अधिक बलवान बताया ही है। किन्तु उपादान को बलवान समझ कर निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निमित्त सामान्य व विशेष के भेद से दो प्रकार के हैं। कितने ही निमित्त इतने सामान्य एवं साधारण होते हैं कि जिनके बिना भी उपादान की सिद्धि हो जाती है। लेकिन इनके विपरीत कितने ही विशिष्ट निमित्त ऐसे होते हैं जिनके बिना उपादान की सिद्धि हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए–रोटी बनाने के लिए चूल्हा, ओरसिया (चकलोटा), बेलन, परात आदि साधारण निमित्त हैं। इनके बिना भी कई व्यक्ति शिला या कपड़े में आटा गूंद कर बिना चूल्हे ही रोटे पकालेते हैं। लेकिन कुछ अनिवार्य निमित्त होते हैं, जिनके बिना रोटी हो नहीं सकती। जैसे पानी, अग्नि आदि। इसलिए उपादान को ही सर्वोपरि समझ कर निमित्त की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

१८७८ प्र.–जिस समय जीव आठों कर्मों का बंध करता है उस समय किस कर्म के विभाग में वे कर्म-परमाणु अधिक आते हैं। इसकी अल्पाबहुत्व एवं इसका कारण फरमावें।

उत्तर–जिस समय जीव आठों कर्मों का बंधन करता है। उस समय सबसे थोड़े कर्म परमाणु आयुष्य-कर्म के पेटे में आते हैं। क्योंकि इसकी स्थिति सब कर्मों से कम है। नाम कर्म व गोत्र कर्म के पेटे में आयुष्य की बजाय विशेषाधिक कर्म-

परमाणु आते हैं, लेकिन दोनों की उत्कृष्ट स्थिति २० क्रोडा-क्रोडी सागरोपम के तुल्य होने के कारण बराबर-बराबर आते हैं। इनसे भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अंतराय के विशेष अधिक एवं परस्पर तुल्य हैं। कारण स्पष्ट है कि स्थिति उत्कृष्टता की अपेक्षा तीनों की सरीखी ३० क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम की है। इससे भी मोहनीय कर्म के पेटे में विशेष अधिक कर्म-परमाणु आते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति सबसे ज्यादा ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की होती है। इससे भी वेदनीय कर्म के विभाग में कर्म-परमाणु विशेषाधिक हैं।

शंका–वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति असाता की अपेक्षा से ३० क्रोड़ा-कोड़ी सागरोपम की ही बताई है, तथा मोहनीय की ७० कोड़ाक्रोडी सागरोपम की है, तो भला वेदनीय के कर्म-परमाणु मोहनीय से अधिक कैसे होंगे ?

समाधान–मोहनीय कर्म की अपेक्षा इसके पुद्गल रुक्ष होते हैं, इसलिए स्थिति थोड़ी होते हुए भी कर्म-परमाणु अधिक रहते हैं। इसी बात को समझाने के लिए दृष्टान्त की परिकल्पना की जाती है–

किसी स्थान पर सेरभर पानी तथा पात्र भर घी रक्खा हो, तो गर्मी से पानी जल्दी सूख जाएगा, किन्तु घी नहीं। वैसे देखा जाय तो परमाणु-पुद्गल पानी में अधिक है, किन्तु फिर भी इसमें रुक्षता है, इसकी बजाय घी अल्प होते हुए भी स्निग्ध है, अतः उसे सूखने में काफी समय एवं श्रम की अपेक्षा होती है।

या पापड़ बनाने के लिए छोटे-छोटे लोए बनाए जाते हैं।

गर्मी की मौसम में जल्दी सूख कर उन पर पपड़ी जम जाती है, तथा फिर उनको बटने में कष्ट होता है, अतः उन पर तेल का लेप कर लेते हैं। उस लोए में पानी की तुलना में तेल बहुत कम है, फिर भी वह स्निग्धता उस लोए को ताजा एवं मुलायम रखती है। आटे को न सूखने देने के लिए भी घृत-लेपन किया जाता है।

कहने का सारांश यह है कि आयु-कर्म से अन्य कर्मों की स्थिति संख्यात गुण होते हुए भी कर्म-परमाणुओं की जो विशेषाधिकता कही है, वह भी परमाणुओं की स्निग्धता-रुक्षता से बनी समझनी चाहिए। विशेष ज्ञानी कहे, वही प्रमाण है।

१८७९ प्र.—भगवान् की वाणी को "कामित पूरण कल्प-द्रुम सम" कहा गया है। सो किस कामना की पूर्ति-कारक समझें।

उत्तर—कामित का अर्थ इच्छित होता है। सब जीवों के सुख ही इच्छित है तथा वास्तविक सुख वही है, जिसके पीछे दुःख प्राप्ति न हो। यानि निराबाध शाश्वत सिद्धि सुख रूप कामना की पूर्ति करने से 'भगवद्वाणी' को ऐसा कहना उचित ही है।

१८८० प्र.—नमोत्थुणं के पाठ में सभी तीर्थंकरों को "आइगराणं" धर्म की आदि करने वाले किस प्रकार कहा है? क्योंकि धर्म की आदि तो प्रथम तीर्थंकर द्वारा की जाती है?

उत्तर- एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर तक द्वादशांगी रूप पूर्ण श्रुतज्ञान नहीं रहता है। इसलिए द्वादशांगी रूप श्रुतज्ञान

की नई रचना करने की अपेक्षा सब तीर्थंकर आदिकर कहे जाते हैं।

१८८१ प्र.–भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद उनके पट्टधर सुधर्मास्वामी को ही क्यों बनाया गया?

उत्तर–गौतमस्वामी को उसी दिन केवलज्ञान हो जाने से पीछे सुधर्मास्वामी ही रहे। उनका आयुष्य लम्बा था। अतः वे लम्बे काल तक धर्म की जाहोजलाली (प्रभावना) करेंगे। अतः उनको पट्टधर बनाया गया *।

१८८२ प्र.–ग्यारह अंगों में उपासकदशांग है। इसी प्रकार किसी के शासन में उपासिकादशांग भी होता है, या नहीं?

उत्तर–जिस प्रकार "णमो लोए सव्व साहूणं" में साधुओं के अतिरिक्त साध्वियों को भी वंदन हो ही जाता है। इसी प्रकार उपासक शब्द से उपासिका का भी ग्रहण हो जाता है। किसी समय उपासिकाओं का (स्वतंत्र रूप से) वर्णन हो, तो शास्त्र का नाम उपासकदशा ही रहता है + ।

---

* भगवान् के ग्यारह गणधरों में गौतमस्वामी एवं सुधर्मास्वामी के अतिरिक्त नौ गणधर भगवान् की विद्यमानता में ही मोक्ष पधार गए थे। जब भगवान् मोक्ष पधारे तो (प्रातःकाल के लगभग) इंद्रभूतिजी को केवलज्ञान हो गया। अतः वे पाट पर नहीं विराजे। क्योंकि सूत्र-परम्परा चलाना छद्मस्थों का व्यवहार है, केवलियों का व्यवहार नहीं है। अतएव सुधर्मास्वामी भगवान् के उत्तराधिकारी हुए। यह वर्णन पं. श्री पारस-रिजी सम्पादित नन्दीसूत्र पृ. २० पर है।

+ जिस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल आदि भूतकाल में

१८८३ प्र.–विकलेंद्रिय का विरहकाल कितना है ?

उत्तर–प्रज्ञापना के प्रयोगपद में विकलेंद्रिय के कार्मण के अलावा तीनों योग शाश्वत वताए हैं । अतः विरहकाल उनकी शरीरपर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त से कम समझना चाहिए ।

१८८४ प्र.–क्या व्याकरण पढ़ना आस्रव-बहुल है ?

उत्तर–जिस प्रकार पिता का शरीर दुःख रहा हो, तो उसे अपने पैरों से दबाने वाला भी पिता की सेवा ही करता है, उसी प्रकार शास्त्र-वांचन में सहायता रहेगी आदि शुभ भावों से सीखने पर आस्रव-बहुलता का कारण होने पर भी उस प्रकार का आस्रव नही होता । मान-सम्मान के लिए पढ़े, तो आस्रव बहुल है । (सूयगडांग अ. ३ उ. ३ गाथा ४ के अर्थ में लिखा है–"साधु सोचता है कि न जाने कब में स्त्री, जल (मल), परीषह आदि का शिकार हो जाउं और मेरे पास पूर्व उपार्जित

रहे हैं, वर्तमानकाल मे हैं, तथा भविष्य में रहेंगे । ये कभी नहीं थे या नहीं है, या नही रहेंगे ऐसी वात नहीं है, यानि सदा सद्भावित है । उसी प्रकार १२ अंग रूप गणिपिटक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय अवस्थित एवं नित्य है । महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा द्वादशांगी नित्य है इन १२ अंगों के नाम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होता नहीं, होगा नहीं । अतः उपासकदशा के विषय में भी समझना चाहिए । नमस्कार मंत्र भी शाश्वत है । उसमें कभी णमो लोए सव्व साहूणी ऐसा नहीं होगा । फिर भी "सर्वे पदा हस्तिपदा निमग्ना" हाथी के पैर मे दूसरे सब पाँव समा जाते हैं, उसी न्याय से साधु-पद से सभी साध्वियां भी पूज्या, अभिवंदनीया एवं वंदनीया हैं । द्वादशांगी की नित्यता एवं ध्रुव नियत आदि शब्दों का विशद अर्थ देखने के लिए नन्दी सूत्र पृ. ४७० का अनुरोध है ।

निर्वाह के साधन भी नहीं है, अतः अपने निर्वाह के लिए ज्योतिष, वैद्यक, साहित्य आदि विद्या का सहारा ले लूंगा।" इसी प्रकार कोई व्याकरण पढ़ कर सोचे कि कभी गृहस्थी बन जाऊँगा, तो हिंदी आदि का अध्यापक बन कर आजीविका कर लूंगा। ऐसा सोच कर जीवन-निर्वाहार्थ व्याकरणादि का पाठन साध्वोचित नहीं है–सं.)

१८८५ प्र.–"तिण्णं गुणवयाणं" कौनसे हैं ?

उत्तर–श्रावक के १२ व्रत है। प्रथम पाँच अणुव्रत है। इन पाँचों में गुणों की वृद्धि करने के कारण छठा सातवां और आठवां अणुव्रत 'गुणव्रत' कहा जाता है। पाँच अणुव्रत धारण करने के बाद भी गुणों की वृद्धि गुणव्रतों से इस प्रकार होती है–छठा दिशा-परिणाम व्रत धारण कर के मर्यादा कर ली जाती है कि उस सीमा से आगे अमुक दिशा में नहीं जाउँगा, तो दिशा की मर्यादा के बाहर जो हिंसादि होते है, उनकी क्रिया रुक जाती है।

सातवाँ उपभोग-परिभोग की मर्यादा का व्रत दिशा में रहे पदार्थों की भी मर्यादा करवा कर विशेष गुण-वृद्धि करता है।

आठवाँ अनर्थदण्ड-विरमण व्रत भोगोपभोग की मर्यादित वस्तुओं का भी निष्प्रयोजन प्रयोग रुकवा कर अनर्थदण्ड से बचाता है। अतः इन तीनों व्रतों को गुणव्रत कहना सर्वथा उचित ही है।

१८८६ प्र.–प्रत्येक इंद्र की सेना में कितनी संख्या होती है ?

उत्तर–आत्म-रक्षक देवों से एक सौ सत्ताइस गुणी।

१८८७ प्र.–क्या परमाणु के वर्ण, गंध, रस आदि में परि वर्तन होता है ?

उत्तर–हां, परमाणु का वर्ण-वर्णान्तर तथा गंध-गंधान्तर होता है । जैसे एक ही जीव की शैशवावस्था, यौवन आदि बीत जाते हैं, तथा वृद्धावस्था आ जाती है, या जल में एक तरंग मिट कर दूसरी तरंग आ जाती है, उसी प्रकार वर्ण-वर्णान्तर सम्भव है ।

१८८८ प्र.–क्या आयुष्य का बंध आर्त्तध्यान में ही होता है ?

उत्तर–उत्तराध्ययन अ. २९ बावीसवें बोल में "आउयं च णं कम्मं सियबंधइ सिय णो बंधइ"– आयुकर्म कदाचित् बन्धता है कदाचित् नहीं बंधता है, लिखा है । धर्मध्यान के भेद अनुपेक्षा भी है ही, अतः धर्मध्यान में भी आयु बंध हो सकता है । वैसे तो आर्त्तध्यान जिस गुणस्थान तक है, उसी तक आयु का बंध भी है ।

१८८९ प्र.–पर्याप्तियाँ एक साथ पूर्ण होती है, या नहीं ?

उत्तर–जिस प्रकार कोई बाई रोटियां बनाती है, तो पहले लोया तोड़ती है, बाद में लोया बनाती है, फिर बटती है तथा फिर सेकती है । इस प्रकार पर्याप्तियां अनुक्रम से पूर्ण होती है । एकसाथ नहीं होती ।

१८९० प्र.–भगवान् वीतरागी होते हुए भी मिथ्यादृष्टि अनार्य आदि शब्दों का प्रयोग क्यों करते हैं ?

उत्तर–"साले" शब्द को गाली का द्योतक माना जाता

है, फिर भी अपनी पत्नी के भाई को 'साला' कहा ही जाता है, इसमें राग-द्वेष नहीं है। उसी प्रकार जो मिथ्यादृष्टि है, उसे मिथ्यादृष्टि कहना अनुचित नहीं है। अद्वेष भाव से जहर को अमृत नहीं कहा जाता। उसे उपयोग रहते पिया नहीं जाता, बल्कि दूसरों को जहर का स्वरूप बता कर उससे दूर रहने का ही कहा जाता है। इस प्रकार जहर को जहर कहना व समझना द्वेषवश नहीं है। स्वमति पर राग तथा अन्यमति पर द्वेष की कल्पना सर्वज्ञ-सर्वदर्शी में तो क्या सुसाधु में भी नहीं की जाती। भगवान् की भाषा के लिए खीर-खांड की मधुरता एवं अतुच्छता बताई है। भगवान् की सेवा में आर्य-अनार्य, समकिती-मिथ्यात्वी सभी आते थे। सूत्रों में जहाँ-कहीं भी परमत खण्डन हुआ है, बड़ी सौम्यता से....। "परमत वाले जो यह कहते हैं वह मिथ्या है। मैं इसे इस प्रकार कहता हूँ....।" भगवान् में न तो भक्तों के प्रति राग था न अन्यमतियों के प्रति द्वेष। अतः जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द आए हैं, वे सर्वाक्षर सन्निपात्ति गणधरों द्वारा गुंथित है। जिस शब्द को उचित समझते हैं, उसी शब्द का प्रयोग करते हैं। (वे वचन से तो क्या मन से भी इतने क्षमाशील थे, जिसका उत्कृष्ट उदाहरण भगवती शतक १५ में गौशालक के लिए है। गौशालक ने दो मुनियों पर तेजो-लेश्या का प्रहार कर मार दिये, तथा परमोपकारी तीर्थंकर देव पर भी तेजो-लेश्या डाली, तथा असाता का निमित्त बना। इस पर भी उनकी क्षमा कितनी विराट थी? यह तो केवलज्ञान के बाद की बात है, पहले भी छद्मस्थावस्था में संगम देव के

षट्मासिक उपसर्ग, अनार्य लोगों के काया-कम्पक कष्ट! चण्डकौशिक का दंशन आदि-आदि मानसिक वाचिक एवं कायिक उपसर्गों को सहन करने वाले तुच्छ-भाषी हो, यह कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए।)

१८९१ प्र.–भगवान् महावीर स्वामी को साढ़े बारह वर्ष तक एवं एक पक्ष की तपश्चर्या में मात्र दो घड़ी की ही निद्रा आई। क्या उनके कर्मो का उदय इतना अल्प था कि उनको इतना ही प्रमाद हुआ ?

उत्तर–कर्मोदय कम होने से प्रमाद में अल्पता हुई, यह बात एकान्त रूप से नहीं समझना, क्योंकि कर्म-क्षय करने के प्रति भगवान् का उत्साह (घगश) बहुत ज्यादा था। आज भी जिस काम में लोगों की रुचि होती है, उसमें प्रमाद नहीं आता। जैसे रोज सुबह देर से उठने वाला व्यक्ति भी पेशी आदि पर जाने के लिए रेल का समय अर्द्ध-रात्रि या बाद में हो तो बिना किसी के उठाए उठ जाता है। इसी प्रकार जिस धर्मात्मा में धर्म-प्रवृत्ति का उत्साह एवं तमन्ना हो, तो वह आज भी अल्प प्रमादी तथा अनिद्रालु बन सकता है।

१८९२ प्र.–सातों नरकों का एक ही दण्डक बताया है, लेकिन भवनपति के दस दण्डक भिन्न-भिन्न क्यों बताए हैं ?

उत्तर–भवनपति के दण्डक भिन्न-भिन्न बताने के निम्न कारण है–

(१) अन्तर की अपेक्षा–एक नरक का क्षेत्र जहाँ पूरा होता है, वहाँ से दूसरी नरक का क्षेत्र प्रारंभ हो जाता है।

नरकों के वीच अन्तर नहीं है। लेकिन भवनपतियों के दस आवासों के वीच नरक के प्रतर आए हुए हैं, इसलिए भवनपतियों के दण्डक भिन्न हैं।

(२) स्वामी की अपेक्षा-सातों नरकों के कोई अधिपति (स्वामी) नहीं है। अतः एक ही दण्डक है, लेकिन असुरकुमारेंद्र आदि के भेद से भवनपतियों के अलग-अलग इंद्र हैं।

(३) चिन्ह की अपेक्षा-सातों नरकों के नैरयिकों का कोई चिन्ह नहीं है, लेकिन भवनपतियों के अलग-अलग चिन्ह हैं। जिनसे उनकी जाति पहचानी जाती है।

(४) वस्त्र की अपेक्षा-सभी नैरयिक वस्त्र नहीं पहनते लेकिन भवनपति वस्त्र धारी होते हैं, उनके कपड़ों का अलग-अलग रंग विशेष है।

(५) वर्ण की अपेक्षा-सभी नैरयिकों का शरीर काले रंग का बताया गया है, किन्तु भवनपतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का हैं। इत्यादि कारणों से नरक का एक तथा भवनपतियों के भिन्न-भिन्न दस दण्डक बताए गए हैं।

१८९३ प्र.-भवनपतियों के चिन्ह, वर्ण तथा वस्त्रादि के रंग फरमावें ?

उत्तर-यह समझने के लिए पन्नवणा पद २ के हिसाब से तालिका बनाई जाती है-

(तालिका अगले पृ. पर देखें।)

नं०	नाम	चिन्ह	किसमें	वर्ण	वस्त्र	इन्द्र	इन्द्र	विमान संख्या	
						उत्तर	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण
१	असुरकुमार	चूड़ामणि	मुकुट में	काला	लाल	बलि	चमर	३० लाख	३४ लाख
२	नागकुमार	सर्प का फण	भूषण में	पाण्डु	नील	भूतानन्द	धरण	४० लाख	४४ लाख
३	सुवर्णकुमार	गरुड़	भूषण में	गौर	श्वेत	वेणुदालि	वेणुदेव	३४ लाख	३८ लाख
४	विद्युतकुमार	वज्र	भूषण में	गौररक्त	नील	हरिस्सह	हरिकांत	४६ लाख	५० लाख
५	अग्निकुमार	पूर्ण कलश	मुकुट में	रक्त	नील	अग्नि माणव	अग्निशिख	३६ लाख	४० लाख
६	द्वीपकुमार	सिंह	भूषण में	रक्त	नील	विशिष्ट	पूर्ण	३६ लाख	४० लाख
७	उदधिकुमार	अश्व	भूषण में	पाण्डु	नील	जलप्रभ	जलकांत	३६ लाख	४० लाख
८	दिशाकुमार	गज	भूषण में	गौर	श्वेत	अमित वाहन	अमित	३६ लाख	४० लाख
९	पवनकुमार	मगर	भूषण में	श्याम	संध्या	प्रभंजन	वेलंब	३६ लाख	४० लाख
१०	स्तनितकुमार	वर्द्धमान सरावसंपुट	भूषण में	गौर	श्वेत	महाघोस	घोष	३६ लाख	४० लाख

१८९४ प्र.—फिर तो भवनपतियों की भांति वाणव्यन्तरों के भी आठ दंडक होने चाहिए थे ?

उत्तर—यद्यपि वाणव्यन्तर के आठ भेद हैं, फिर भी उनमें खास अन्तर नहीं है। उनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रादि नहीं बताए हैं, क्योंकि उनके लिए 'विचित्त वत्थाभरणे......' पाठ आता है। उनके वर्ण भी भिन्न-भिन्न नहीं बताए हैं। निवास स्थान भी आठ सौ योजन का समुच्चय बताया है। अतः भिन्न दण्डक नहीं बताया गया।

१८९५ प्र.—वैमानिक में एक ही दण्डक क्यों है ?

उत्तर—सात नरक की भांति देवलोक आदि का क्षेत्र भी संलग्न हैं, तथा आपस में विशिष्ट प्रकार का अन्तर नहीं होने से सामान्य रूप से एक ही दण्डक का निरूपण किया गया है।

१८९६ प्र.—दण्डक के भेद क्यों किए हैं ?

उत्तर—जीवों के स्वरूप को गति, जाति, भेद-समूह की अपेक्षा समझाने वाली वाक्य-पद्धति को 'दण्डक' कहते हैं। भव्य जीवों को भांति-भांति से समझाने के लिए चौवीस दण्डक माने गए हैं। यदि भवनपति के दस दण्डक नहीं करते, तो उनमें रही विविधता सरलता से समझ में नहीं आती। जहाँ ज्यादा विभिन्नता नहीं देखी, वहाँ एक दण्डक बता दिया। कहीं पर सरलता से समझाने के लिए नरक आदि के भेदों को भी भिन्न-भिन्न गिना गया है। जैसे—गर्भों में ४४ (जीवों के रहने के स्थान भेद विशेष) घर कहे हैं।

१८९७ प्र.—"साधु के दर्शन ही मंगल रूप हैं, अतः मांग-

लिक की आवश्यकता नहीं।" क्या साधु ऐसे शब्दों का प्रयोग कर सकता है ?

उत्तर–साधु को ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें निश्चय साधुत्व हैं या नहीं, यह वह नहीं जानता तथा साधु को मंगल बता कर आत्म-प्रशंसा करता है, तथा इस प्रकार वह जोखिम उठाता है। दूसरी बात मुनि-दर्शन का फल श्रवण बताया गया है। अतः विशेष समय न हो, तो भी मांगलिक तो सुनाना ही चाहिए। तथा इतना भी समय न हो, तो 'दया पालो' तो कहना ही चाहिए।

१८९८ प्र.–परदेश जाते या पापकार्य में कोई मांगलिक मांगे, तो सुनाना चाहिए या नहीं, इससे अनुमोदन तो नहीं होता ?

उत्तर–जो व्यक्ति पाप-कर्म करते या परदेश जाते हुए भी मांगलिक सुनने आता है, तो उसमें धर्म-श्रद्धा होगी ही तथा धर्म को ग्राह्य व आदरणीय भी मानता होगा। अतः मांगलिक अवश्य सुनानी चाहिए। इसमें अनुमोदन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि मांगलिक नहीं सुनाएँगे, तो भी वह परदेश तो जायेगा ही। तथा नहीं सुनाने पर उसके चित्त में खेद होगा तथा वह सोचेगा कि भला यह भी क्या साधु हैं ? जो मांगलिक भी नहीं सुनाते। अमुक समय तक ही मांगलिक सुनाना तथा बाद में नहीं सुनाना, यह भी उत्तम रीति नहीं है। जैसे दवाई की दुकान २४ घंटे खुली रखे, तो अपराध नहीं। वैसे ही यह भावरोग की महा औषधि है।

१८९९ प्र.-आनंदजी ने पानी की मर्यादा तो की थी, परंतु क्या वह बहुत ज्यादा नहीं थी ?

उत्तर-आनंदजी श्रावक ने ८ घड़े पानी जो स्नान के लिए रखे थे, वे महोत्सव आदि के मौके पर इससे अधिक न वापरने रूप थे। लेकिन दूसरे सामान्य दिवसों में तो कम ही वापरते थे तथा पूरा विवेक रखते थे ।

१९०० प्र.-नव ग्रैवेयक तथा अनुत्तर-विमानवासी देवों के समुद्घातों का स्वरूप फरमावें ?

उत्तर-भगवती सूत्र शतक २४ उद्देशक २१ में ग्रैवेयक व अनुत्तर-विमानवासी देवों में पाँच समुद्घातों का शक्ति की अपेक्षा कथन किया गया है, किन्तु वैक्रिय तथा तैजस्-समुद्घात नहीं करते । बाकी तीन समुद्घातों का स्वरूप इस प्रकार से है-

(१) वेदनीय समुद्घात-भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६ में चौवीस ही दण्डकों के लिए इहगत व उत्पद्यमान के स्यात् महावेदना बताई है । इस हिसाब से ग्रैवेयक व अनुत्तर विमानवासी देवों के उत्पन्न होते समय कुछ काल के लिए वेदनीय-समुद्घात का होना संभव है ।

(२) कषाय-समुद्घात भगवती शतक १ उद्देशक ५ में बताया गया है कि सभी देव कभी-कभी लोभोपयुक्त हो जाते हैं। तथा कभी-कभी क्रोधादि उपयोग वाले भी होते हैं । जब कभी भी अनुत्तर-विमान या ग्रैवेयक के देवों के लोभादि किसी भी कषाय की उत्कृष्टता हो, तब कषाय-समुद्घात गिनी जाती है।

मान ली गई है। यहां निश्चय नयानुसार उन-उन प्रकृतियों का क्षयोपशमादि लिया गया है, किन्तु उनका (समकित आदि का) उपयोग नहीं लिया गया है। अतः क्षयोपशमादि की अपेक्षा स्थिति निश्चय नयानुसार मानने में बाधा जैसी बात नहीं है।

११०७ प्र.—उच्चार-प्रसवण का परिष्ठापन गृहादि में करने से निशीथसूत्रानुसार लघु-मासिक प्रायश्चित्त बताया है, लेकिन उद्यानादि में परिस्थापन करने से उ. १५, १६ में लघु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है, सो एक ही वस्तु के परिष्ठापन में प्रायश्चित्त की न्यूनाधिकता क्यों है?

उत्तर—निशीथसूत्र के तृतीय उद्देशक में गृहादि में उच्चार-प्रसवण का परिस्थापन करने पर लघु-मासिक प्रायश्चित्त बताया है, सो इसका कारण यह ध्यान में आता है कि जहाँ लोगों का घुमाव-फिराव आना-जाना कम है, ऐसे सामान्य घरों की अपेक्षा प्रायश्चित्त थोड़ा होना योग्य ही है। अतः लघु-मासिक प्रायश्चित्त बताया है। १५ वें उद्देशक में वे स्थान लिए गए हैं, जहाँ लोगों का आना-जाना तथा चहल-पहल ज्यादा रहती है। जैसे—उद्यान बड़े-बड़े गाथापतियों के गृहादि। वहाँ परिस्थापन करने (परठने) से लोगों की घृणा (दुगुंछा) विशेष होती है, तथा धर्म की विशेष अवहेलना होने के कारण लघु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया गया है। सोलहवें उद्देशक में अन्तर-रहित सचित्त पृथ्वी आदि के जीवों की विराधना एवं अयतना के कारण लघु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त

बताया गया है, विशेष ज्ञानी जानें।

१९०८ प्र.—यथाच्छंद की प्रशंसा करने वाले को गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। लेकिन कुशीलादि की प्रशंसा का प्रायश्चित्त लघु-चातुर्मासिक बताया। यह अन्तर क्यों है।

उत्तर—स्वेच्छानुसार सूत्रार्थ का मनमाना अर्थ करने वाले, गृहस्थकार्य की चिन्ता करने वाले तथा स्त्रीकथादि विकथा करने वाले होने के कारण यथाच्छंद की प्रशंसा एवं वंदन-पूजन करने वाले को निशीथसूत्र ग्यारहवें उद्देशक के अनुसार गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है। क्योंकि सूत्रों का विपरीत तथा इच्छानुसार अर्थ प्ररूपणा तो चारित्रिक-शिथिलता से भी विशेष भयंकर है। किन्तु उत्सूत्र-प्ररूपक न होने से पार्श्वस्थादि की प्रशंसा एवं वंदन करने वाले को निशीथ उ. १३ में लघु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है ×।

× यथाच्छंद की परिभाषा—यथाछंदः छन्दोऽभिप्राय इच्छा वा यथा स्वाभिप्रायानुसारं स्वेच्छानुसारं वा यथैव स्वस्याभिप्रायः तथैव यो विचरति स यथाछंद आगमनिरपेक्ष वर्तनशील इत्यर्थं। अर्थ—आगमों की परवाह न कर मनमाने आचार विचार वाला।

कुशील की परिभाषा—कुशीलः कुत्सितम् आगमनिषिद्धं शीलं आचार-समितिगुप्त्यादि रूपो विद्यते यस्य स कुशीलः। आगमनिषिद्ध आचार वाला, समिति गुप्ति का विराधक।

पार्श्वस्थ की परिभाषा—पार्श्वे ज्ञानादीनां समीपे न तु ज्ञानादिषु तिष्ठतीति पार्श्वस्थ अथवा पाशस्थ इतिच्छाया, तत्र पाशा बंधहेतुभूता मिथ्यात्वादयः तेषु तिष्ठतीति पाशस्थः। ज्ञानादि को पसवाड़े पर देने वाला।

१९०९ प्र.–सामान्य नय की अपेक्षा से असंख्य प्रत्येक शरीरी वनस्पति जीवों की हिंसा में त्रस जीव की हिंसा से कम पाप लगता है। क्योंकि त्रस की बजाय स्थावर के प्राण, पुण्यवानी, योगादि की अल्पता है। क्या ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक प्रत्येक वनस्पति की हिंसा की अपेक्षा अनंत साधारण जीवों की हिंसा सामान्य नय से कम है ?

उत्तर–साधारण रूप से स्थावर की हिंसा की बजाय त्रस की हिंसा में पाप ज्यादा लगता है। किन्तु जीवों की संख्या का निर्देश करना ठीक नहीं है।

परन्तु ज्ञानादि में रमण नहीं करने वाला तथा मिथ्यात्व आदि पाश में रहने वाला। (पू. श्री घासीलालजी म. सा. कृत व्यवहार सूत्र से साभार)

यथाच्छंद अन्तगड़वर्णित उस ललितगोष्ठी के समान होते हैं, जो अपने हरेक कार्य को अच्छा समझते हैं, तथा दूसरे भी समझें ऐसा आग्रह रखते है। ज्ञान का सम्यग्परिणमन न हो तो अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। वे अपने व्याकरण, न्याय, नीति तथा दर्शन के ज्ञान का उपयोग विपरीत रीति से करते हैं। ज्ञानीजन तो कृष्ण के समान कुतिया के भी दाँतों की भी गुणग्राहकता रखते हैं, पर यथाच्छंद तो नयनाभिराम प्रासाद में भी पाखाना खोजते हैं। तरह तरह से येन-केन कुतर्क से किस प्रकार शास्त्र-संहार करें, यही उद्यम रहता है। किसी ने कहा है—

जइ न सक्कसि काउं, सम्मं अइदुक्करं तवचरणं।
तो सच्चं भासिज्जा, जह भणियं वीयराएहिं ॥

हे आत्मन् ! यदि तू दुष्कर तप और उग्र आचार का पालन नहीं कर सकता, तो जैसा वीतराग ने कहा, वैसा सत्य बोला कर। वह सत्य-भाषण भी तेरे कल्याण का कारण होगा।

निशीथसूत्र के दसवें उद्देशक में मुनि को अनन्तकाय संयुक्त आहार करने का गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है, किन्तु १२ वें उद्देशक में परित्तकाय (प्रत्येक शरीरी) संयुक्त आहार करने का लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है। इस सूत्र से अनन्तकाय में प्रत्येक-शरीरी से ज्यादा पाप है, यह स्पष्ट हो जाता है। अतः प्रत्येक की हिंसा से अनंतकाय में कम पाप कहना उचित नहीं है।

१९१० प्र.–जिस समय जीव उत्कृष्ट रूप से संक्लिष्ट परिणामों वाला हो, उस समय भी वह अगुरुलघु आदि ध्रुव-बंधिनी पुण्य-प्रकृतियों का बंध किस कारण करता है? अनु-प्रेक्षादि शुभ भावों में पाप-प्रकृतियों का बंध होता है, उसका कारण तो दसवें गुणस्थान तक कषाय का होना माना भी जा सकता है। लेकिन क्लिष्ट अध्यवसाय में पुण्य का बंध कैसे हो जाता है। समझ में नहीं आया?

उत्तर–जिस प्रकार अनुपेक्षाओं के साथ कषाय होने के कारण पाप-प्रकृतियों का बंध होता है, उसी प्रकार उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामों के साथ तैजस् और कार्मण-शरीर होने से पुण्य-प्रकृतियाँ भी बंधती हैं।

१९११ प्र.–प्रहार के द्वारा उसी समय या छह मास के भीतर कोई जीव काल कर जाय, तो प्रहार करने वाले के पांच क्रियाएँ बताई हैं, तथा बाद में मरे तो चार क्रियाएँ बताई हैं। क्या इससे यह माना जा सकता है कि आयुष्य-कर्म छः मास तक घट सकता है? आयुष्यकर्म की स्थिति की घात होती है,

या नहीं ? कर्मदलिकों की भाँति आयुष्य की स्थिति का शीघ्र भोग होता है या नहीं ?

उत्तर—यदि छः महीने में चोट खाया जीव मर जाय, तो पाँच क्रियाएँ लगती हैं, यह कथन सामान्य व्यवहारनय की अपेक्षा समझना चाहिए। अन्यथा जब कभी भी उस जीव की अधिकृत प्रहार के कारण मृत्यु हो जाय, तो उस समय ही प्राणातिपातिकी क्रिया लगती है। व्यवहारनय का कथन होने से यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि छः मास आयु घट सकती है।

आयु-कर्म का स्थितिघात एवं प्रदेशघात छद्मस्थों की अपेक्षा माना गया है। विशिष्ट ज्ञानियों ने तो जैसा बनने वाला है, वैसा ही देखा है। अतः स्थितिघातादि व्यवहारनय से हो सकता है। ऐसा ध्यान में आया है।

१९१२ प्र.—क्या मारणांतिक समुद्घात से निरुपक्रमी आयुष्य वालों को अन्य समय में भी आयुकर्म की उदीरणा संभव होती है ? यदि हो सकती है, तो अन्य समय में उदीरणा होने के कारण सोपक्रम आयुष्य वाले क्यों नहीं माने जायँ ?

उत्तर—प्रथम से षष्ठम् गुणस्थान तक सब जीवों के उदयमान आयुष्य-कर्म की अंतिम आवलिका को छोड़ कर शेष समयों में आयुकर्म की उदीरणा होती है। अतः निरुपक्रमी आयुवालों के भी स्वाभाविक उदीरणा तो होती ही है। किन्तु इससे अन्य विशेष प्रयत्नों द्वारा जो आयुष्य-कर्म की उदीरणा होती है, वह निरुपक्रमी आयुष्य वालों के नहीं होती है। इस

कारण से निरूपक्रमी आयुष्य वालों के स्वाभाविक उदीरणा होते हुए भी वे सोपक्रमी आयुष्य वाले नहीं कहलाते हैं।

छठे गुणस्थान से आगे इस प्रकार के अध्यवसायों का अभाव है। अतः स्वाभाविक उदीरणा भी नहीं होती।

१९१३ प्र.-तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न लक्षण किस असाधारण प्रतिभा के द्योतक होते हैं। उन लक्षणों की सफलता बताने का उद्देश्य फरमावें ?

उत्तर-शास्त्रों में वर्णित लक्षणों में से प्रत्येक तीर्थंकर के एक हजार आठ उत्तम लक्षण होते हैं। उनमें से अमुक तीर्थंकर के अमुक स्थान पर अमुक लक्षण होता है, तो अन्य तीर्थंकरों के अन्य स्थानों पर। किन्तु (प्रमुख) वह लक्षण शरीर में स्पष्ट दिखाई देने से उन २ तीर्थंकरों के वह २ लक्षण बताया गया है। उन लक्षणों की दूसरी कोई खास विशेषता जानी नहीं।

१९१४ प्र.-अटवी की यात्रा से निवृत्त पुरुषों से आहार लेने का निषेध निशीथ उ. १६ में किया गया है, सो इसका क्या कारण है ?

उत्तर-इसका कारण निम्न प्रकार से ध्यान में आया है-अटवी की यात्रा से प्रति निवृत्त पुरुषों से अशनादि लेने से उनके द्वारा लाए गए आरण्यक आहार (जंगल की खास-खास खाद्य वस्तु) तथा अवशेष आहार को प्राप्त करने की इच्छा पुत्रादि की होती है। यदि वह आहार साधु लेवे, तो उनको अन्तराय लगती है। आहारादि नहीं मिलने से वे रुदनादि करते हैं। हो सकता है, उन बच्चों का वह करुण विलाप

देख कर वह यात्री साधुओं पर कुपित हो सकता है; तथा मन में पश्चाताप भी करे। या उन पुत्रादि को राजी करने के लिए वह नया आरंभ करे। इन-इन कारणों को देखते अरण्य-निवृत्तों से आहार लेने का निषेध किया है।

१९१५ प्र.—उववाई सूत्र में 'अभिग्रह' भिक्षाचरी के भेद में बताया है और उत्तराध्ययन में ऊनोदरी के अन्तर्गत बताया है, सो इसका क्या कारण है ?

उत्तर—यों तो अभिग्रह भिक्षाचरी तप का ही भेद है; लेकिन भिक्षाचरी के साथ ऊनोदरी भी होती है। अतः उत्तराध्ययन में कुछ अभिग्रहों के नाम ऊनोदरी तप में भी बता दिए हैं।

१९१६ प्र.—एक पुरुष अचित्त हलदी युक्त दाल खाता है। दूसरा आलू के खेलड़ों से मिश्रित दाल खाता है। यदि दोनों दालों में हलदी व आलू के खेलड़ों की मात्रा सम हो, तो सामान्य रूप से पाप कम-ज्यादा किसे लगेगा ? दोनों अनन्तकाय जन्य आहार करते हैं ?

उत्तर—यदि स्वाद-दृष्टि व स्वास्थ्य-दृष्टि आदि में किसी प्रकार का अन्तर न हो, तो सामान्य नय से समान मात्रा वाली हलदी व आलू की पपड़ी वाली दाल में समान पाप सम्भव है। क्योंकि दोनों अनन्तकायजन्य है।

१९१७ प्र.—जिस समय कोई जीव ज्ञानावरणीय कर्म-बंधक क्रिया करता है; उस समय उसे ज्ञानावरणीय का अनुभाग बंध अधिक होता है। तथा अन्य कर्मों का अनुभाग बंध मंद होता है। इसी प्रकार जो जीव जिस कर्म की बंधक क्रिया में वर्तमान

होता है, उसी का अनुभाग बंध अधिक व शेष का मंद करता है। इस मान्यता के विषय में आपश्री का क्या अभिमत है ?

उत्तर–जो जीव जिस कर्म-बंधक क्रिया में विशेष रूप से वर्तता है, उस समय उस कर्म का अनुभाग बंध अधिक होता है-यह ठीक ही है।

१९१८ प्र.–क्या केवलज्ञान की पर्यायें तथा केवलज्ञान से जानने योग्य द्रव्यों की पर्यायें तुल्य हैं ?

उत्तर–केवलज्ञान की पर्यायें शक्ति की अपेक्षा अनन्त गुण संभव हैं। यानि केवली जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, उन सबको तो जानते देखते ही हैं, लेकिन यदि इनसे अनन्त गुण ज्ञेय पदार्थ भी होते, तो केवलज्ञान से उन्हें देखा जाना संभव था। जब ज्ञेय पदार्थ इतने ही हैं; तो इतने ही देखते हैं। लेकिन ज्ञेय पदार्थों का इतना ही होना, इस बात का द्योतक नहीं है कि वे इतना ही देख सकते हैं।

१९१९ प्र.–अष्टम् नवम् गुणस्थान वाले कल्पी तथा दशम् गुणस्थान वाले कल्पातीत होते हैं, सो इनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर–सूक्ष्म-संपराय नामक दशम् गुणस्थान में जिनकल्प-स्थविरकल्प के भाव नहीं होते। अतः वे कल्पातीत होते हैं। कोई छेदोपस्थापनीय-चारित्र वाले सीधा सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान स्पर्श करें, तो वे अष्टम् व नवम् गुणस्थान स्पर्श करते। कल्पातीत नहीं होते। यह वर्णन भगवती श. २५ उ. ७ से स्पष्ट है। अष्टम् नवम् गुणस्थान वालों में कल्प के भाव रहते हैं। लेकिन दशम् गुणस्थान में नहीं रहने से उनको कल्प से परे-कल्पातीत

कहा जाता है ।

१९२० प्र.–क्या तीर्थंकरों के अतिरिक्त दूसरों में सात उपजाने वाली शीतल तेजोलेश्या नहीं होती है ? यदि हो सकती है, तो गौशालक ने सर्वानुभूति अणगार एवं सुनक्षत्र मुनिवर को जलाने के लिए उष्ण-तेजोलेश्या फेंकी, तब वहाँ रहे हुए दूसरे मुनियों ने शीतल-तेजोलेश्या का प्रयोग क्यों नहीं किया ? क्या इतने सन्तों में से किसी के पास भी शीतल-तेजोलेश्या नहीं थी ?

उत्तर–तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य मुनि भी शीतल तेजोलेश्या वाले थे । लेकिन भावी-भाव आदि अनेक कारणों से गौशालक द्वारा तेजोलेश्या प्रहार करने पर भी वे ऐसा नहीं कर सके । दूसरे तो नहीं कर सके, पर स्वयं महावीर स्वामी कर सकते थे । ऐसे प्रश्न का समाधान यही है कि प्रभो केवल ज्ञानी थे । वे जानते थे कि सर्वानुभूति एवं सुनक्षत्र ये दोनों मुनि रत्न इसी प्रकार कालधर्म को प्राप्त होंगे । सूर्याभ देव नाटक जरूर करेगा । मेरे मना करने पर भी रुकेगा नहीं, ऐसा समझ कर प्रभो मौन रहे । उन्होंने नाटकादि को अच्छा नहीं समझा । इसी प्रकार वे जानते थे कि जमालि अनगार को मैं रोकूंगा तो भी नहीं रुकेंगे । अतः बार-बार ५०० साधुओं के साथ अलग विचरने की आज्ञा मांगने पर भी भगवान् ने आज्ञा नहीं दी । प्रश्न–जब भगवान् जानते थे कि सूर्याभदेव नाटक करेगा तथा जमालि अलग विचरेंगे, तो उन्होंने आज्ञा क्यों नहीं दी ? उत्तर–इस प्रकार तो अनर्थ हो सकता था । कल प्रश्नकर्त्ता ही शिकायत करते कि भगवान् ने नाटक में

आज्ञा क्यों दी, उन्हें मौन ही रहना था। तथा जमालि सरीखे धर्म-निन्हवों को शिष्य क्यों प्रदान किए ? अतः आज्ञा न देना तो हर दृष्टि से उत्तम था। प्रश्न–भगवान् मना करते, तो क्या वे नहीं रुकते ? उत्तर–नहीं। प्रभो त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों के ज्ञाता थे। मान लीजिए वे मना करते तथा जमालिजी अलग विचरते तथा सूर्याभदेव नाटक करते, तो अन्यमतियों में तथा दूषितमति स्वमतियों में इस बात की कितनी निंदा होती कि 'अरे ! जैनियों के चरम तीर्थंकर ने देव को नाटक न करने का कहा तथा उसने आज्ञा की अवहेलना कर दी। अपने शिष्य को अलग विचरने का मना किया, तो भी वह अलग विचरा। उनकी आज्ञा की जब उनकी विद्यमानता में ही मखौल उड़ाई गई, तो आज तो पालन होगा ही कैसे ? फिर उन महामहिम परोपकारी तीर्थंकर भगवंतों की कितनी अवहेलना होती ? अतः लोकवंद्य महाप्रभु ने जो आचरण किया, वह उचित ही हुआ है।

"से पण्णया अक्खय सागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसाइ मुक्के, सक्के व देवाहिवई जुईमं" ॥

–सूयगडांग अ. ६ गाथा ८

साथ ही एक बात यह भी है कि यदि भावी-भाव में ही अस्पष्टता दिखे या करे, तो वह केवलज्ञान ही कैसा ?

१९२१ प्र.– क्या शीत-तेजो-लेश्या से अनुग्रह एवं उष्ण तेजो लेश्या से उपघात ही होता है ? या अन्य भी कोई कार्य संभव है ?

उत्तर–शीत तेजो-लेश्या से अनुग्रह तथा उष्ण से परिताप

आदि कार्य किए जाते हैं। इन लेश्याओं के अन्य कार्य देखने सुनने में नहीं आए ।

१९२५ प्र.—क्या कल्पातीत अवधिज्ञान वाले ही होते हैं ?

उत्तर—कोई कल्पातीत अवधि आदि ज्ञान वाले होते हैं, कोई न भी हों। अतः सभी कल्पातीतों में अवधि की नियमा नहीं समझना ।

१९२६ प्र.—सूक्ष्म वनस्पति एवं निगोद का अन्तर बादर काल कितना हो सकता है ?

उत्तर—सूक्ष्म वनस्पति एवं सूक्ष्म निगोद का अन्तर पृथ्वी काल जितना ही कहना उचित लगता है।

१९२७ प्र.—लवणसमुद्र का पानी जंबूद्वीप को इसलिए पूरित नहीं किया करता कि इसमें तीर्थंकरादि का सद्भाव है—यह तो ठीक है, लेकिन पहाड़, नदी, द्रह, क्षेत्रादि के देवों को इसमें हेतु कैसे समझा जाय, यानि उनका पुण्य कैसे गिना गया ?

उत्तर—नदी, द्रह आदि के देवों के भी पुण्य होते हैं। अतः लवणसमुद्र का पानी जंबूद्वीप में नहीं आने के ये भी कारण जीवाभिगम सूत्र के मूलपाठ में बताए हैं ।

१९२८ प्र.—क्या हरिकेशी मुनि एकलविहारी के आठ गुणों से सम्पन्न थे ?

उत्तर—हरिकेशी मुनि ने किस के पास दीक्षा ली, इसका वर्णन देखने में नहीं आया। वे अकेले विचरण करते थे, ऐसी सम्भावना है। जिस प्रकार गजसुकुमाल मुनि में प्रतिमा वहन की योग्यता थी, उसी प्रकार इनमें भी अकेले विचरने की

योग्यता थी, तभी तो अलग विचरे व मोक्ष पधारे।

१९२९ प्र.–जब सिद्ध होते हुए वक्रगति से गमन नहीं होता, तो 'सिद्ध विग्रहगति' व 'सिद्ध अविग्रहगति' का क्या अर्थ है?

उत्तर–मार्ग में चलते सिद्धों की गति को सिद्ध विग्रहगति कहते हैं, तथा सिद्धिस्थान में स्थित सिद्धों को अविग्रहगति समापन्नक सिद्ध कहा जाता है। भगवती शतक १४ उ. ५ में पूछा गया है कि–क्या नैरयिक अग्निकाय के बीचो-बीच जाते हैं? भगवान् ने उत्तर फरमाया कि–नैरयिक दो प्रकार के होते हैं–१ विग्रहगति समापन्नक और २ अविग्रहगति समापन्नक। इनमें से विग्रहगति समापन्नक अग्निकाय के बीच में जा सकते हैं। इससे विग्रहगति का अर्थ वाटे वहता होता है, किन्तु मात्र वक्रगति ही नहीं होता।

१९३० प्र.–चारों घाती-कर्मों की उदीरणा कर के शीघ्र क्षय किस प्रकार किया जा सकता है? प्रत्येक घातीकर्म की उदीरणा का पृथक्-पृथक् उपाय फरमावें?

उत्तर–भाव-विशुद्धि के बिना तो घाती-कर्मों का क्षय असंभव ही है। अलग-अलग रूप से इस प्रकार समझना—

निर्मल एवं शुद्ध ज्ञान को ग्रहण करने व चिंतन करने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय की रुकावट होती है। निर्मल समकित पालने से दर्शन-मोहनीय की उदीरणा होती है। निरतिचार चारित्र-पालन करने तथा चारित्रिक गुणों में वृद्धि करने से चारित्र मोहनीय की उदीरणा होती है। शुभकार्यों में शक्ति लगाने से अन्तराय कर्म की उदीरणा होती है। इन-इन प्रकार

सूत्र अन्तकृतदशा कहा जाता है।" लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि अन्तकृत-वर्णित सभी भव्यात्माओं ने अन्तरमुहूर्त रहते ही केवलज्ञान प्राप्त किया हो* ।

१९३३ प्र.–ईर्यापथिकी क्रिया के अतिरिक्त शेष चौबीस क्रियाएँ केवल पाप की ही बंधक है, या पाप व पुण्य दोनों की? यदि इनको मात्र पाप की ही बंधक मानें, तो पुण्य की बंधक क्रियाएँ कौनसी है ?

उत्तर–जैसे प्रयोग-क्रिया में दोनों प्रकार के प्रयोग सम्मिलित हैं तथा यह उभय बंधन है, उसी प्रकार अन्य क्रियाओं के लिए पुण्य-पाप की विचारणा कर लेना योग्य है। सामान्य रूप से तो दसवें गुणस्थान तक निरन्तर पुण्य एवं पाप दोनों का बंध होता ही है।

१९३४ प्र.–जिस प्रकार साधु का जघन्य ज्ञान पाँच समिति व तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माता का है। उसी प्रकार अविरति व देशविरति का जघन्य ज्ञान क्या हो सकता है?

उत्तर–अविरत सम्यग्दृष्टि को देव, गुरु धर्म का संक्षिप्त

---

* समवायांग सूत्र में अन्तकृतसूत्र के परिचय में पहले केवलज्ञान प्राप्ति का वर्णन है, फिर संलेखना आदि का। यदि सभी को आयुष्य का अन्तर्मुहूर्त शेष रहते ही केवलज्ञान होता, तो महीने आदि की संलेखना का पहले वर्णन कैसे आता? तथा 'अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहते ही केवलज्ञान हो,' यह कल्पना मात्र है, तथा शायद गजसुकुमाल मुनिराज के चारित्र से उत्पन्न हुई हो, पर समाज में कहीं-कहीं है अवश्य। इसका समाधान हो, इस हेतु, समवायांग का उल्लेख किया है।

बोध तथा देश-विरति को इस ज्ञान के साथ व्रतों का संक्षेप ज्ञान इन दोनों का जघन्य ज्ञान हो सकता है।

१९३५–ऐसा कौनसा प्रमाण है जिससे यह माना जाय कि जिनकल्प महाविदेह क्षेत्र में भी है?

उत्तर–अभिधान राजेंद्र कोष के "जिणकप्प" शब्द के अर्थ में महाविदेह-क्षेत्र में भी जिनकल्पी होना बताया है। तथा भगवती श. २५ उ. ६–७ से भी महाविदेह में जिनकल्प मानने में कोई बाधा नहीं आती।

१९३६ प्र.–दस प्रकार के प्रत्याख्यानों का भंग करता हुआ जीव उत्तरगुण विराधक ही होता है, या मूलगुण की भी विराधना करता है?

उत्तर–वैसे तो भगवती सूत्र श. २५ उ. ६ में दस प्रकार के प्रत्याख्यानों को उत्तरगुणों में बताया है। अतः उत्तरगुणों की विराधना है। किन्तु इनमें भी यदि भंग करते-करते अनाचार की परिधि में आ जाय तो पंचाशक गाथा ८८४ के प्रमाण से वह मूलगुण विराधक भी हो सकता है। वह गाथा–

"सव्वेवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ हुंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं॥"

अर्थ–१६ प्रकार के कषाय बताए हैं, उनके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार के क्रोध मान माया लोभ होते हैं। यहाँ पंचाशक के कर्त्ता कहते हैं कि–संज्वलन कषायोदय रहे तभी तक अतिचारों की संभावना है। बाकी की १२ कषायों में (अनाचार होने से)

मूलगुणों का ही छेद (नाश) हो जाता है।

१९३७ प्र.–छठे गुणस्थान में नीचगोत्र के उदय का अभाव कैसे माना जा सकता है, जबकि दीक्षित व्यक्ति नीच-जाति एवं नीच-कुल का हो सकता है ?

उत्तर–स्वभाव से ही छठे गुणस्थान में नीचगोत्र का उदय नहीं होता। नीच जाति-कुलोत्पन्न जीव भी जब छठे आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर लेता है, तो ज्ञानियों की दृष्टि में वंदनीय-पूजनीय होने से नीचगोत्र वाला नहीं माना जाता।

१९३८ प्र.–क्या कोई परमाधामी मनुष्यभव को सार्थक कर सकने में समर्थ होते हैं ?

उत्तर–चौवीस दण्डकों में शुभाशुभ अध्यवसाय बताए हैं। अतः शुभ अध्यवसायों के कारण कोई परमाधामी मनुष्य-भव प्राप्त कर सकते हैं।

१९३९ प्र.–जिस पंचेंद्रिय तिर्यंच ने उत्कृष्ट असातावेदनीय सरीखा बंध कर लिया हो, लेकिन आयुष्य नहीं बांधा हो तो, क्या वह शुभभाव आए बिना ही नरक का आयुष्य टाल सकता है ?

उत्तर–जिस मनुष्य या पंचेंद्रिय तिर्यञ्च ने आयुष्य-बंध से पूर्व असातावेदनीय का उत्कृष्ट बंध कर लिया है, वे यदि शुभ-भाव नहीं आवे, तो प्रायः नरक का आयुष्य बांधते हैं। किन्तु एकान्त नरक का ही बांधे, ऐसा नहीं जंचता + ।

+ अन्तकृतदशा वर्णित अर्जुनमालाकार ने ५ महीने व १३ दिन तक नित्य ७ मनुष्यों का वध किया था। व्यवहार से समझें तो महारम्भ

१९४० प्र.–जितने परमअधर्मी देव हैं, वे नैरयिकों को दुःख देने वाले ज्यादा हैं, या नहीं देने वाले ? क्या कोई ऐसा भी परमाधामी देव हो सकता है, जो नैरयिकों को किंचित् भी पीड़ा न दे ?

उत्तर–कोई परमाधामी यावज्जीवन नरक-जीवों को दुःख नहीं देता हो, ऐसी बात सुनने में नहीं आई और सम्भावना भी नहीं लगती। तथा परमाधामियों के जीवन का बहुतसा भाग तो नैरयिकों को दुःख देने में ही संलग्न रहता है, ऐसी सम्भावना है।

१९४१ प्र.–भगवती सूत्र में एक साथ बीस परीषह का वेदन सम्भव बताया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्रकार १९ परीषह का वेदन बताते हैं, तो दोनों को किस प्रकार समझें ?

उत्तर–शास्त्रकार ने तो चर्या व शय्या का वेदन एक साथ उत्सुकता की अपेक्षा बताया है, किन्तु तत्त्वार्थकार उत्सुकता को गौण कर के उन्नीस परीषह बताते हैं, सो अपेक्षा से संगति हो सकती है।

१९४२ प्र.–शुक्लध्यान के द्वितीय पाद में एक पदार्थ के किसी गुणविशेष पर चित्त की अत्यन्त निश्चलता के कारण मात्र ध्यान ही होता है, या अनुपेक्षा भी ?

पंचेंद्रिय घातादि कारण नरक के हेतुभूत हैं। लेकिन चूंकि वे चरम-शरीरी थे तथा ६ मास तक बेले आदि की तपस्या से कर्म-मल काट दिए। अतः यदि मनुष्य-तिर्यंच आयु-बंध के पूर्व तपादि अनुष्ठान करें, तो कर्म हलके जरूर हो सकते हैं तथा आयु भी शुभ बंध सकता है।

उत्तर–यद्यपि शुक्लध्यान के द्वितीय पाद में किसी एक ही गुण आदि पर चित्त की अत्यन्त निश्चलता के कारण ध्यान होता ही है, तथापि उस विवक्षित गुण का तो विचार होता ही है, तथा विचार होने से वहाँ भी अनुपेक्षा समझनी चाहिए।

१९४३ प्र.–ध्यान एवं अनुपेक्षा का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर–ध्यान अनुपेक्षा का कारण है और अनुपेक्षा ध्यान का कार्य है। चित्त की एकाग्रता होना ध्यान है तथा एकाग्रता से विशिष्ट प्रकार की विचार श्रेणी का होना अनुपेक्षा है। अतः अनुपेक्षा कार्य तथा ध्यान उसका कारण है +।

१९४४ प्र. अनुयोगद्वार में कहा है कि आवश्यक में जो अनुपयुक्त (उपयोग रहित) है, उसे भी ऋजुसूत्र नय आवश्यक मानता है, सो क्या इस नय के अनुसार सामायिक में बैठे व्यक्ति का चित्त व्यापारादि में लगा हो, तो उसे सामायिक वाला समझना?

उत्तर–यदि सामायिक के पाठ का शुद्ध उच्चारण एवं स्तवन-सज्झाय आदि का पठन-गुणन करते हुए भी वह उपयोग रहित है, तो ऋजुसूत्र नयानुसार वह सामायिक वाला कहा जा सकता है, किन्तु भाव नय से नहीं ×।

+ आगमोद्धारक पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म.सा. ने 'ध्यान कल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें ध्यान के भेद, प्रभेद, अनुपेक्षा, पद आदि सारी बातों का सांगोपांग विवेचन है। धूलिया से प्रकाशित इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए।

× ऋजुसूत्र नय की मान्यता द्रव्य की : वर्तमान पर्याय को ग्रहण कर

१९४५ प्र.–विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रिय-शरीर बना कर अपने पैर कहाँ-कहाँ रखे ? इस संबंध में आगमानुकूल कथा क्या है ? सम्यग्दर्शन वर्ष १७ अंक १३ को ले कर प्रश्न है ?

उत्तर–विष्णुकुमार की कथा मूलपाठ में तो है नहीं। इनके कथानक में मत-विभिन्नता मिलती है। उत्सेधांगुल से साधिक लक्ष योजन का वैक्रिय तक किया जा सकता है। अतः विष्णुकुमारजी का वैक्रिय-शरीर साधिक लाख योजन से अधिक नहीं समझना चाहिए। भरत-क्षेत्र के लवण-समुद्र की खाड़ी के पूर्व पश्चिम दिशा में पाँव रखे, ऐसा समझना चाहिए। राजेन्द्र कोष के "विण्हुकुमार" शब्द से भी यह बात स्पष्ट होती है। सम्यग्दर्शन में लिखा है कि–'तथास्तु' कह कर विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रिय-लब्धि से अपना शरीर बढ़ाया तथा १ लाख योजन प्रमाण शरीर बढ़ा कर भयंकर दृश्य उपस्थित कर दिया। खेचर गण भयभीत हो कर इधर-उधर भागने लगे॥ पृथ्वी

भूत भविष्य की उपेक्षा करना है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय तो समय मात्र की पर्याय को ही ग्रहण करता है। स्थूल ऋजुसूत्र नय भी अनेक समयों की वर्तमान पर्यायों को ही ग्रहण करता है। व्यवहार मे कोई साधु का वेश धारण किए हो, लेकिन उसका मन सांसारिक विषयों में लगा हो तो यह नय उस समय साधु नही मानता। शब्द भेद की भी यह नय उपेक्षा करता है।

नय का वर्णन योगनिष्ठ मुनिश्री फूलचन्दजी 'श्रमण' द्वारा सम्यग्दर्शन में लेखमाला के रूप में हुआ था जो बाद में "नयवाद" के नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। संक्षेप में नयों का स्वरूप समझने के लिए संस्कृति रक्षक संघ द्वारा प्रकाशित "शिविर व्याख्यान" नामक पुस्तक का "अनेकान्त" प्रकरण देखना चाहिए।

कम्पायमान हो गई। समुद्र विक्षुब्ध हो गया। ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिषी एवं व्यन्तर देवी-देवियाँ स्तब्ध एवं चकित रह गए। विष्णुकुमार नमुचि को पृथ्वी पर गिरा कर अपना एक पाँव समुद्र के पूर्व तथा एक पाँव पश्चिम किनारे पर रख कर खड़े रहे। यहाँ बीच में (जंबूद्वीप की जगति) कोष्ठक नहीं गिनने से भाव ठीक बैठ जाते हैं।

१९४६ प्र.—जब औदारिक-शरीरी अन्य जीव अग्निकाय से जीव-रहित हो जाते हैं, तो वायुकाय अग्नि की उष्णता से अचित्त क्यों नहीं होती? पिंडनिर्युक्ति में कहा है कि आषाढ़ आदि के दिनों में उष्णता के निमित्त से वायु अचित्त होती है?

उत्तर—भगवती सूत्र शतक १९ उ. ३ में बताया गया है कि वायुकाय की अवगाहना से तेजस्काय की अवगाहना असंख्यातगुण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि तेजस्काय से वायु का सीधा हनन नहीं होता है। अतः अग्नि के द्वारा अन्य अचित्त वायु सचित्त वायु का हनन कर सकती है। जैसे पंखे से उत्पन्न हुई अचित्त वायु आस-पास में रही सचित्त वायु का घात करती है।

१९४७ प्र.—क्या पौषध-रहित मासखमण का तप पौषध से कम है?

उत्तर—सम्यक्त्वी जीव विद्या साधन, देव बुलाना आदि सांसारिक कारणों के बिना जो कर्म-निर्जरार्थ तपस्या करता है, वह मासखमण देशविरति के द्वारा होता है। यदि कारण वश वह पौषध न कर सके, तो भी सामान्य नय से मासखमण

का फल अधिक संभव है ।

१९४८ प्र.–यदि वर्षाभाव से दुःखित मानवों, पशुओं व पक्षियों को देख कर कोई श्रावक वर्षा वर्षने की चाहना करे तथा वर्षा होने के बाद प्रसन्न होवे, तो यह अर्थदण्ड है या अनर्थदण्ड ?

उत्तर–यद्यपि इस प्रकार के चिंतन को अर्थदण्ड में लिया जा सकता है, फिर भी इसे आर्त्तध्यान तो कहना ही पड़ेगा तथा सामायिक-पौषधादि में तो इस प्रकार के चिंतन का निषेध है ।

१९४९ प्र.–रति एवं अरति ये दो होते हुए भी इन्हें एक पाप में ही कैसे गिना गया है ?

उत्तर–किसी पदार्थ पर एक विषय की अपेक्षा रति है, तो वही विषयान्तर की अपेक्षा अरति कही जा सकती है । इसी प्रकार जिस पर अरति है, उसी पर रति हो जाती है । अतः उपचार से दोनों में एकत्व कहा जा सकता है× ।

× श्रवणेंद्रिय की अपेक्षा—मधुर गीत वादित्र का सुनना रति का कारण है, रुचि एवं गृद्धि का हेतु है । लेकिन माथा दुख रहा हो या असह्य वेदना हो या किसी प्रियजन का वियोग हो, तो वे ही गीत वाद्यादि अप्रिय लगते है । यह उस अपेक्षा रति तथा इस अपेक्षा अरति हुई ।

चक्षुइंद्रिय की अपेक्षा—किसी प्रियजन को देखते ही हर्ष होता है । लेकिन मनमुटाव, वैर या अन्य किसी कारण से उससे शत्रुता हो जाय, तो उसे देखना तो दूर हम नाम सुनना भी पंसद नहीं करते हैं । जिस पर रति थी उसी पर अरति हुई ।

१९५० प्र.–क्या चतुर्थ गुणस्थान वाला सकाम-निर्जरा कर सकता है ?

उत्तर–चौथे गुणस्थान में सकाम-निर्जरा एवं अकाम-निर्जरा दोनों की संभावना रहती है। पंच-परमेष्ठी का स्मरण, वंदन-नमस्कार, सम्यक्त्व निर्मलता, श्रुत-भक्ति एवं प्रवचन-प्रभावकता आदि आदि गुणों के कारण सकाम-निर्जरा कर सकता है। इसी प्रकार दौहद पूर्ति, विद्या-सिद्धि, आदि के साधनार्थ की जाने वाली निर्जरा अकाम-निर्जरा होती है।

१९५१ प्र.–श्रीकृष्ण, अभयकुमार आदि के तेलों को कौनसी निर्जरा का हेतु कहा जाता है ?

घ्राणेंद्रिय की अपेक्षा—विवाहादि उत्सवों पर ईत्र, तेल आदि पर रति होती है। लेकिन शोक के अवसर पर कोई ईत्र सेंट लगा कर आया हो या हमारे लगावे तो कितना विचार होता है)

रसनेंद्रिय की अपेक्षा—बड़े, रोटी, साग आदि गर्मागर्म हों तब तक खाने की रुचि रहती है। वही २-४ दिन के हो जाय तो खाने का तो दूर देखना भी पसंद नहीं आता। दही, दूध आदि पदार्थ तो पहले के दिन के भी नहीं भाते।

स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा—गर्मी में स्नानादि सुख देते हैं, लेकिन सर्दी की मौसम में अप्रिय लग जाते हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ. १२ में कहा गया है—अशुभ शब्द वाले पुद्गल शुभ में परिणत हो जाते हैं, शुभ पुद्गल अशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं, यावत् स्पर्श के लिए भी समझना चाहिए। पुद्गलों के तो रस, गंध स्पर्शादि परिणाम होते ही हैं। अतः रति अरति से बच कर पुद्गलानंदी नहीं बनना चाहिए।

उत्तर–चूंकि कृष्ण, अभयकुमार आदि ने देव साधने के लिए अष्टम् भक्त की आराधना की। अत: वह अकाम-निर्जरा संभव है। दशवैकालिक अ. ९ उ. ४ में ४ प्रकार की तप-समाधि बताई गई है;–

"चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा–नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, २ नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ३ नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ४ नन्नत्थ णिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।" अर्थ–इसलोक, परलोक के सुखों के लिए या कीर्ति, वर्ण, शब्द श्लाघादि के लिए भी तपस्या न करे। कर्मों की निर्जरा के अतिरिक्त और किसी भी कार्य के लिए तपस्या न करे।

१९५२ प्र.–दस प्रकार के प्रायश्चित्तों में श्रावक को कितने प्रायश्चित्त तक आ सकते हैं?

उत्तर–मूलार्ह एवं छेदार्ह प्रायश्चित्त के अतिरिक्त आठ प्रायश्चित्त तक आने की संभावना रहती है।

१९५३ प्र.–कषाय-कुशील का उत्कृष्ट कालमान देशन्यून पूर्वकोटि बताया है। सो क्या उन्हें इतनी लम्बी अवधि में भी मानसिक अतिचार नहीं लगते? या मानसिक अतिचारों को नगण्य कर के न गिना गया है?

उत्तर–ध्यान में ऐसा आया है कि कषायकुशीलपने में अतिचारों की संभावना नहीं है। अत: मानसिक अतिचार भी नहीं लगते।

१९५४–यदि किसी व्रतधारी से असंज्ञी या संज्ञी पंचेंद्रिय

जीव की घात हो जाय, तो क्या प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर-सामान्य प्रकार से किसी श्रावक द्वारा असंज्ञी पंचेंद्रिय की मृत्यु हो जाय तो ५ सामायिक का प्रायश्चित्त आता है। संज्ञी पंचेंद्रिय की मृत्यु हो जाय तो ५ दया, या ५ उपवास या ५ आयंबिल जैसा योग्य हो प्रायश्चित्त आता है।

१९५५ प्र.-स्वदार-संतोष करके परनिमित्त के बिना खुद के भावों की प्रबलता के कारण नियम भंग हो या परस्त्री गमन हो, तो उसका प्रायश्चित्त क्या होगा ?

उत्तर-स्वदार सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर उसकी संख्या आदि देख कर आलोचना सुनने वाले को यथायोग्य प्रायश्चित्त देना उचित है। अतिक्रमण संख्यादि भेद से अनेक प्रकार का होने से एक ही प्रकार के प्रायश्चित्त का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

परस्त्री सम्बन्धी अतिक्रमण में भी कई बातें हैं। जैसे-वह पाप प्रसिद्ध हुआ या नहीं, कितने काल तक सम्बन्ध रहा, धर्म-निंदा, पंचेंद्रिय गर्भपात, पतिहत्या, पत्नीहत्या आदि आदि कई दृष्टिकोणों से विचार कर शुद्धिकरण किया जा सकता है।

१९५६ प्र.-बलात्कार कर किसी साध्वी का शील भंग कर दिया हो तो उस साध्वी को नई दीक्षा ही आती है या अन्य लघु प्रायश्चित्त भी आना संभव है।

उत्तर-वैसे तो बाह्य व्यवहार के कारण नई दीक्षा योग्य है। वैसे गुप्त, अगुप्त, लोक अपवाद आदि अनेक बातें देखनी चाहिए। फिर आलोचना सुनने वाले जैसा योग्य लगे करते हैं।

१९५७-प्र. जो श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी अमावस व पूर्णिमा के ६ पौषध न कर सकें, क्या वे अन्य तिथियों को कुल ६ पौषध कर श्रावक की चौथी प्रतिमा धारण कर सकते हैं ?

उत्तर-जो श्रावक अष्टमी-चतुर्दशी आदि ६ तिथियों को पौषध न कर पाए वे अन्य तिथियों को पौषध करें, तो लाभ का ही कारण है। लेकिन चौथी प्रतिमा धारण करने वाले को तो पर्व-तिथियों का ध्यान रखना ही होगा, नहीं तो उसे प्रतिमाधारी कहा नहीं जाएगा।

१९५८ प्र.-"प्रतिपूर्ण इंद्रिय" होना मात्र आचार्य के लिए ही है या दीक्षार्थी के लिए भी ?

उत्तर-प्रतिपूर्ण इंद्रियाँ आचार्य के लिए होना तो आवश्यक है ही। दीक्षार्थी के लिए भी संयम में बाधा न आए, इतनी इंद्रिय-पूर्णता की आवश्यकता है।

१९५९ प्र.-जिसने प्रथम अणुव्रत सर्वांगीण रूप से धारण किया है, ऐसा व्यक्ति प्रतिरक्षा विभाग आदि हिंसात्मक महकर्मों में किसी पद पर नौकरी कर सकता है, या नहीं ? जहाँ उसे हिंसामय आदेश लेने-देने पड़े। यदि ऐसा नहीं हो सकता, तो प्रथम अणुव्रत में "वृतिकान्तार" आगार का क्या अर्थ है ?

उत्तर-ऐसे विभागों में नामा-लेखा करना पड़े वह तो वृतिकान्तार में आ भी सकता है। लेकिन जिसमें ऐसे आदेश लेने-देने पड़े, ऐसे पद पर प्रथम अणुव्रत को पूर्ण रूप से धारण करने वाला नहीं रह सकता है।

१९६०प्र.-सुत्तागमे भाग २ पृ. ४८५ पंक्ति १६ में पन्नवणा

और गुजराती टीकानुवाद पृ. १३४५ में एकेंद्रियों को मिथ्या दर्शनशल्य विरत कैसे कहा है ?

उत्तर—प्रज्ञापना पद २२ में एकेंद्रियों को मिथ्यादर्शन शल्य विरत नहीं कहा है । क्यों कि पिछले भंगों एवं आलापक को देखने से इसका समाधान हो जाता है * ।

१९६१ प्र.–जिनको पूर्वभव में ज्ञानरुचि तो होती है, पर क्रियारुचि नहीं होती, उनको अगले मनुष्य-भव में भी क्रिया रुचि नहीं होती, क्या यह सत्य है ?

उत्तर–ऐसा एकान्त रूप से तो नहीं कहा जा सकता, पर सामान्यतः जिनको क्रिया-रुचि पूर्वभव में नहीं होती, उन्हे इस भव में भी मंद होने की संभावना रहती है ।

१९६२ प्र.–जीव को अपने पाप का अठारह गुणा फल भोगना पड़ता है । इस मान्यता में सत्य का कितना अंश है ?

उत्तर–जितना पाप करता है, उससे अठारह गुणा उसक

* इस समय सुत्तागमे भाग २ व पन्नवणा गुजराती टीकानुवा दोनों उपलब्ध है । इनमें स्पष्ट रूप से एकेंद्रियों को मिथ्यादर्शन-शल्य विरत नहीं कहा है ।

सुत्तागमे पृ. ४८४ के प्रारंभ से ९ पंक्ति तक के भाव इस प्रका हैं—इसमें मनुष्यों को ही मायामृषा तक के १७ पापों से विरत हो सकना बताया है । मिथ्यात्व के लिए चउरिंद्रिय तक का निषेध किया है । नवमं पंक्ति में स्पष्ट लिखा है—

....एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं णवरं एगिंदियविगलें दियाणं णो इणट्ठे समट्ठे ।

फल भोगना पड़ता है, यह सुनने में नहीं आया तथा संभावना भी कम ही है। क्योंकि इनसे अधिक व न्यून दोनों प्रकार से हो सकता है।

१९६३ प्र.--श्रावक को संवत्सरी की ३२, चौमासी की १६, पक्खी की ५ सामायिक प्रतिक्रमण के प्रत्याख्यान के बाद दी जाती है। इसी प्रकार दैवसिय प्रायश्चित्त के रूप में श्रावक को क्या प्रायश्चित दिया जाना चाहिए ?

उत्तर--श्रावक को नियमित रूप से दैनिक प्रायश्चित देने की प्रथा देखने में नहीं आई ।

१९६४ प्र.--दो जीवों ने किसी सामान्य प्रायश्चित्त स्थान का सेवन किया। दोनों लज्जा भय या किसी भी कारण से समझिए, आलोचना नहीं कर सके। पर एक ने गुरुदेव से कहा--'ऐसा दोष किसी से हो गया है, उसने मेरे द्वारा पत्र से पुछवाया है कि इसका दण्ड क्या होगा ? आप फरमावें तो मैं उसे लिख भेजूं।' गुरु ने दण्ड लिखवा दिया तथा दोनों ने उसको वहन कर लिया। ऐसे जीव आराधक होते हैं, या नहीं ?

उत्तर--ऐसी स्थिति में आराधक नहीं हो सकता है* ।

१९६५ प्र.--कुछ आचार्य अपर्याप्तावस्था में चक्षुदर्शन का निषेध करते हैं। इंद्रिय-पर्याप्ति बंधन के पश्चात् पर्याप्तावस्था के पूर्व चक्षुदर्शन हो, तो क्या बाधा है ? जबकि अपर्याप्तावस्था में श्रुतज्ञान हो सकता है जो विशिष्ट है, फिर सामान्य चक्षु-

* पूज्यश्री घासीलालजी म. सा. विरचित व्यवहारसूत्र के प्रथम उद्देशक का अध्ययन इस विषय में उपयोगी है।

दर्शन के विषय में क्या बाधा है ?

उत्तर—प्रज्ञापना सूत्र के पांचवें पद में जघन्य अवगाहना वालों में अर्थात् (जघन्य अवगाहना तो अपर्याप्तावस्था में ही होती है) अपर्याप्तावस्था में भी चक्षुदर्शन बताया है। अतः यही ठीक लगता है (प्रज्ञापना गुजराती टीकानुवाद पृ. ५६३ पर जघन्य अवगाहना वाले बेइंद्रिय, तेइंद्रिय से चउरिंद्रिय में चक्षुदर्शन ज्यादा बताया है)।

१९६६ प्र.—क्या मनःपर्यवज्ञानी आहारकशरीरी आहारक-लब्धि का प्रयोग करते हैं ?

उत्तर—मनःपर्यवज्ञानी अवश्य कषायकुशील होते हैं, जो अप्रतिसेवी होते हैं। अतः ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा जिस समय मनःपर्यवज्ञान तथा कषायकुशीलपने में उपयोग होता है, उस समय आहारक-लब्धि का प्रयोग नहीं करते हैं।

१९६७ प्र.—जो व्रतधारी नहीं है, उसे सांवत्सरिक प्रायश्चित्त के रूप में ३२ सामायिक कहने का अर्थ ही क्या है ?

उत्तर—जो रोज नियमित रूप से भले ही सामायिक नहीं करता, पर अनियमित रूप से कभी-कभी सामायिक-पौषधादि करता हो, वह किसी रूप में तो व्रतधारी है ही। अतः उसे संवत्सरी आदि का प्रायश्चित्त लेना योग्य है।

१९६८ प्र.—उत्तराध्ययन अ. २८ गाथा २९ में चारित्र व समकित का एक साथ होना कैसे माना जा सकता है ? सम्यक्त्व आने के बाद चारित्र आना तो माना जा सकता है, पर समकित के साथ ही व्रत धारण हो जाना समझ में नहीं आता। क्या

असोच्चा-केवली की अपेक्षा समकित एवं चारित्र की उत्पत्ति को युगपत् समझा जाय? या किसी जीव ने भाव सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना दीक्षा ग्रहण कर ली। फिर बाद में ज्ञानादि करते हुए उसे भाव समकित आए। जैसे समकित आने पर पूर्व का ज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार पूर्व चारित्र भी सम्यग्चारित्र हो जाता होगा। इस अपेक्षा दोनों की उत्पत्ति एक साथ मानी जाय। इस विषय को किस प्रकार समझा जाय?

उत्तर–प्रथम गुणस्थान वाला जीव तीसरे, चौथे, पाँचवें एवं सातवें गुणस्थान में जा सकता है। सादि मिथ्यात्वी जीव सीधा सप्तम गुणस्थान में जा सकता है। अतएव सादि मिथ्यात्वी की अपेक्षा समकित एवं चारित्र की एक साथ उत्पत्ति मानी गई है। प्रश्न-कथित दोनों दृष्टान्त सादि मिथ्यात्वी के लिए लागू हो सकते हैं।

१९६९ प्र.–आभिग्रहिक आदि पाँच मिथ्यात्व में से अभव्य में कितने मिथ्यात्व होते हैं?

उत्तर–यद्यपि यह खुलासा देखने में नहीं आया कि अभव्य में पांचों में से कितने मिथ्यात्व हो सकते हैं, तथापि व्यवहार दृष्टि से उसमें पांचों मिथ्यात्वों का होना माना जा सकता है।

१९७० प्र.–यदि मनुष्य व देवगति को एकान्त पुण्य रूप माना जाय, तो इसे स्थानांग में दुर्गति कैसे कहा गया है?

उत्तर–यद्यपि देवगति एवं मनुष्यगति पुण्य-प्रकृति ही है तथापि इनके साथ में उदय में आने वाली पाप-प्रकृतियों की

बहुलता होने से किल्विषी हीन जाति आदि की अपेक्षा देव दुर्गति तथा मनुष्यों में चाण्डाल कुल दरिद्रता आदि की अपेक्षा मनुष्य दुर्गति कही गई।

१९७१ प्र.–भगवती शतक ३ उ. १ में बताया गया है कि–१ चमरेंद्र एक जंबू जितने क्षेत्र को वैक्रिय द्वारा भर सकते हैं २ असंख्य द्वीप समुद्रों को भर सकते हैं। पूछना यह है कि चमर के लिए ये दोनों बातें विषयमात्र ही है, या जंबूद्वीप जितने क्षेत्र को चमर भरते ही हैं। यदि वे नहीं भरते हैं, तो मात्र विषय के कथन की आवश्यकता ही क्या है? यही प्रश्न बली आदि के द्वारा २-२ विकुर्वणा के संबंध में है?

उत्तर–चमरेंद्र प्रसंग आने पर एक जम्बूद्वीप जितने क्षेत्र को वैक्रिय से पूर्ण रूपेण भर देता है, तथा शक्ति तो असंख्य द्वीप समुद्रों को भरने जितनी है। इसी प्रकार बलींद्र आदि के लिए भी प्रथम शक्ति करने रूप तथा दूसरी को मात्र शक्ति रूप में समझना चाहिए।

१९७२ प्र.–श्रावक जब प्रतिक्रमण करते हैं, तो पहले सामायिक लेते समय चउवीसंथवं करते ही हैं, फिर प्रतिक्रमण में दुबारा पहला सामायिक आवश्यक रूप चउवीसंथवं करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर–आवश्यक के पहले जो सामायिक ली जाती है, वह नवमें व्रत रूप है। वह दुपहर, संध्या प्रतिक्रमण के समय, पहले पीछे जब भी चाहें की जा सकती है। लेकिन प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक हैं–सामायिक से लगा कर पच्चक्खाण तक। आव-

श्यक का अंग होने के कारण सामायिक में भी प्रथम आवश्यक करना जरूरी है।

१९७३ प्र.- आनपन्नी आदि 'गंधर्व' व्यन्तरों के स्थान कहाँ आए हैं ? सहस्त्र योजन प्रमाण रत्नकाण्ड के ऊपरी एवं नीचे के १०० योजन छोड़ कर मध्य के ८०० योजन में हैं या ८० योजन पर्यंत क्षेत्र में समझने योग्य है। इनके भवनादि पिशाच आदि व्यन्तरों से पृथक है; या मिलेजुले एक स्थान में है। उनकी पृथक्ता का ज्ञान कैसे होता है ?

उत्तर-आनपन्नी आदि आठों व्यन्तरों के स्थान भी प्रज्ञापना सूत्र के हिसाब से रत्नकाण्ड के हजार योजन के क्षेत्र में ऊपर व नीचे १००-१०० योजन छोड़ कर मध्य के ८०० योजन में समझने चाहिए। तथा पिशाचों आदि के इंद्रों से इनके इंद्र भिन्न-भिन्न बताए हैं। अतः इनके भोमेय नगर मिले-जुले न समझ कर भिन्न-भिन्न बताए हैं।

१९७४ प्र.-कोई भी जीव मनुष्य या तिर्यच से नरक में जाए, बाद में पुन: मनुष्य या तिर्यच बने, फिर नरक में जाए इस प्रकार वह नरक के भव अधिकतम कितनी बार कर सकता है ? इसी प्रकार कोई जीव नरक के स्थान पर देव के भव करें, तो अधिकतम कितने कर सकता है ?

उत्तर-शास्त्रों (प्रज्ञापना के कायस्थिति पद आदि) में पंचेंद्रिय एवं संज्ञी की कायस्थिति तो देखने में आती है, लेकिन प्रश्नानुसार त्रिसंयोगी भंगों की कायस्थिति देखने में नहीं आई। अतः इनके भवों की उत्कृष्ट संख्या कैसे बताई जा सकती है ?

१९७५ प्र.–क्या लोकांतिक देवों के अधिपति सम्यग्दृष्टि एवं एकभवावतारी ही होते हैं ?

उत्तर–ऐसा मानना स्थानांग ३ की टीका के आधार से है।

१९७६ प्र.–भाव मन रूपी है या अरूपी ? यदि हम भाव मन को रूपी मानें, तो उसे ज्ञानरूप मानना योग्य है, या जड़ रूप ? यदि ज्ञान रूप है, तो वह रूपी कैसे ? यदि इसे जड़ रूप मानें तो द्रव्य मन से इसकी भिन्नता क्या हुई ?

उत्तर–मन रूपी ही है, अरूपी नहीं। भगवती शतक १३ उ. ७ एवं शतक १२ उ. ५ में मन को रूपी बताया है। श. १२ उ. ५ में तो मन आदि के पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस व चार स्पर्श बताए गए हैं। छद्मस्थों के चिन्तन रूप मन को भाव मन कहते हैं, तथा मन से पूछे गए प्रश्नों का उत्तर केवली जिस मन से देते है, वह द्रव्य मन है।

१९७७ प्र.–भगवती शतक १२ उ. ५ में १८ पापों को ४ स्पर्श वाले किस अपेक्षा से कहा है ? क्या इसमें ये अपेक्षाएं रही हुई हैं–१ जिन कर्मों के उदय से पाप होता है, उनकी अपेक्षा या २ पाप करने से जिन कर्मों का बंध होता है उनकी अपेक्षा ३ या इनसे अलग कोई और ही अपेक्षा हो। जैसे आत्म-परिणाम रूप लेश्या अरूपी है, वैसे वैभाविक आत्म-परिणाम रूपी क्रोधादि को अरूपी क्यों नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर–प्रश्नकथित प्रारम्भ की दोनों अपेक्षाएं इस सम्बन्ध में ठीक है, क्योंकि प्राणातिपात आदि से जिन कर्मों का बंध हो या जिन कर्मों के उदय से जीव प्राणातिपातादि करे, उन कर्मों

को उपचार से प्राणातिपात आदि कहते हैं। चूंकि कर्म चतुःस्पर्शी रूपी है, अतः इन्हें भी रूपी बताया है। उन-उन कर्म-पुद्गलों के उदय से ही वह पाप किया जाता है। इसलिए क्रोधादि के परिणामों को अरूपी नहीं बताया है।

१९७८ प्र.--छठे गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान के अध्यवसाय निम्न ही होते हैं, या उच्च भी हो सकते हैं। कामदेव आदि के दैविक उपसर्गों को सहन करते समय जो अध्यवसाय थे, उससे मूलगुण प्रतिसेवना करते (दोष लगाते) प्रतिसेवी-कुशील के अध्यवसाय उच्च कैसे समझना? यदि निम्न समझें तो छठा ऊँचा है?

उत्तर--छठे आदि गुणस्थानों में पूर्व संग्रहीत संयम-पर्यव विशेष एवं विशुद्ध होते हैं। ऐसी अवस्था में यदि वह मूलगुण आदि का प्रतिसेवी बन जाय, तो उसके संयम-पर्यवों का ह्रास होते हुए भी बचे हुए संयम पर्यव पाँचवें गुणस्थान वाले से विशुद्ध होते हैं। हाँ, यदि दोनों अवस्थाओं में मृत्यु हो जाय तो पाँचवें वाला आराधक माना जाएगा, छठे वाला नहीं।

१९७९ प्र.--जब तक अकर्कश-वेदनीय का बंध न हो, तब तक क्या कर्कश-वेदनीय का बंध ध्रुव होता ही रहता है? तथा अकर्कश-वेदनीय कर्म की उदय उदीरणा एवं सत्ता किस गुणस्थान में सम्भव है।

उत्तर--अठारह ही पापों का सम्पूर्ण त्याग करने से अकर्कश-वेदनीय का बंध होता है। जब तक अकर्कशवेदनीय का बंध प्रारम्भ न हो, तब तक जीव साता-असाता रूप दोनों में से कोई

प्रकृति बांधता रहता है। अनारंभी जीव के जब तक बंध होता है, अकर्कशवेदनीय का ही। यह विशिष्ट प्रकार की सातावेदनीय है। अभव्यों को इसका बंध नहीं होता। अकर्कशवेदनीय का उदय चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक, उदीरणा चौथे से छठे गुणस्थान तक एवं सत्ता प्रथम से चौदहवें गुणस्थान तक ध्यान में आती है।

१९८० प्र.—क्या चौदह पूर्वधर मोक्ष में न जा कर देवलोक में भी जा सकते हैं?

उत्तर—दृष्टिवाद की पराकाष्ठा वाले तो उसी भव में मोक्ष जाते हैं, ऐसी धारणा है। लेकिन भिन्न या अभिन्न चतुर्दशपूर्वधर देवलोक में भी जा सकते हैं। इसके लिए आगमिक प्रमाण इस प्रकार है—

१ भगवती सूत्र श. ११ उ. ११ में महाबल चरित्र में महाबलकुमार का विस्तृत वर्णन है। वे धर्मघोष अनगार के पास प्रव्रजित हो कर सामायिकादि १४ पूर्वों का अध्ययन कर के तथा बारह वर्ष की श्रमण-पर्याय का पालन कर के पाँचवें ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुए। शंका—चौदह पूर्वधरों का जघन्य उपपात छठे देवलोक में होता है, फिर महाबल पाँचवें में कैसे उत्पन्न हुए? समाधान—उनको चौदह पूर्व में से कुछ ज्ञान विस्मृत हो गया होगा या कुछ कम सीखा होगा। उन्हें परिपूर्ण चौदह पूर्वों का ज्ञान नहीं होना सम्भव है।

२ पहला उदाहरण अपरिपूर्ण चौदहपूर्वी का था। अब ज्ञाताधर्मकथांग अ. १४ के तेतलिपुत्र का उदाहरण प्रस्तुत है।

पोट्टिल देव द्वारा प्रतिबोधित किए जाने पर उनको जातिस्मरण-ज्ञान हुआ। उन्होंने विचार किया–मैं महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी राजधानी में महापद्म नामक राजा था। एक स्थिविर मुनि के निकट मुण्डित हो कर यावत् चौदह पूर्वो का अध्ययन कर महाशुक्र कल्प नामक सातवें देवलोक में जन्म लिया। बाद में स्वयं दीक्षित होने तथा विचारणा करने से वे चौदह पूर्व स्मृति में आ गए।

प्रभव, शय्यंभव आदि पूर्वाचार्य भी चतुर्दशपूर्वी थे, तथा वे स्वर्ग में गए हैं।

१९८१ प्र.–तारों के बीच जघन्योत्कृष्ट अन्तर बताया गया है, वह आगे-पीछे की अपेक्षा समझना चाहिए या दायें-बायें सब तरफ? यदि ऐसा है, तो कूट आदि व्याघातिक स्थानों पर तारे एक दूसरे से दूर हट जाते हैं।

उत्तर–ताराओं का निर्व्याघात रूप से जो जघन्य उत्कृष्ट अन्तर बताया गया है, वह मात्र तारापथ में ही नहीं समझ कर सब तरफ समझना चाहिए। तथा जहाँ पर कूटादि का व्याघात है, वहाँ पर उतना मंडलाकार आकाश ताराओं से रहित संभवित है वह ताराओं से रहित आकाश व्याघातिम कहलाता है और वहाँ पर के ताराओं के अन्तर (चाहे बीच में कहीं पर कूट न आने पर भी उसका मंडलाकार आकाश होने से) व्याघातिम कहलाता है।

१९८२ प्र.–उत्तरवैक्रिय से जो लाख योजन का रूप बताया जाता है, वह उत्सेधांगुल की अपेक्षा है या प्रमाणांगुल की

अपेक्षा। यदि उत्सेधांगुल से माने तो प्रमाणांगुल की अपेक्षा तो १०० योजन ही होता है। इतने से शरीर से ही क्या असुरकुमारेंद्र चमर ने इतना उत्पात कर लिया था।

उत्तर–चमरेंद्र के उत्तरवैक्रिय की अवगाहना भी उत्सेधांगुल से ही समझनी चाहिए। शक्ति विशेष के कारण उत्सेधांगुल के शरीर से ही सब कार्य कलाप हो सकते हैं+।

१९८३ प्र.–क्या क्षायिक सम्यक्त्व, केवली या श्रुतकेवली के पादमूल से अन्यत्र नहीं हो सकती है?

उत्तर–इसका बाधक प्रमाण तो देखने में नहीं आया है, लेकिन धारणा तो 'उनके पादमूल के सिवाय भी क्षायिक सम्यक्त्व होने की सम्भावना की है। इस धारणा का आधार यह है कि तीर्थ व्यवच्छेद काल में जातिस्मरणादि द्वारा जो अतीर्थ-सिद्ध होते हैं, वे केवली या श्रुतकेवली के पादमूल के सिवाय भी क्षायिक-समकित प्राप्त कर सकते होंगे।

१९८४ प्र.–श्वासोच्छ्वास नामकर्म एवं श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति-अपर्याप्ति में परस्पर कार्य-भेद क्या है? पर्याप्त होने के पश्चात् जीव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता व छोड़ता है, उसमें श्वासोच्छ्वास नामकर्म का क्या सहकार है?

उत्तर–श्वासोच्छ्वास नामकर्म से श्वासोच्छ्वास लेने की लब्धि प्राप्त होती है। तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से यह

+ असुरकुमारराज चमरेंद्र ने सौधर्म देवलोक में किस प्रकार उत्पात किया, इस वर्णन को जानने के लिए भगवतीसूत्र शतक ३ उद्देशा २ देखना चाहिए।

लब्धि व्याप्त होती है, यह दोनों का कार्यभेद हैं। पर्याप्तावस्था में भी श्वासोच्छ्वास का मूलभूत कारण तो श्वासोच्छ्वास नामकर्म तो है ही, किन्तु उसका व्यापार श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा होता है। यानि नामकर्म का व्यापार कराने में पर्याप्ति सहकार करती है।

१९८५ प्र.-एक जीव ने श्रावकव्रत ग्रहण कर रखे हैं, दूसरा अविरति है। दोनों से पंचेंद्रिय-घात आदि कोई पाप समान रूप से हो जाय, तो दोनों का प्रायश्चित्त समान होगा या न्यूनाधिक ?

उत्तर-दोनों को समान प्रायश्चित्त दिया जाता है, क्योंकि दूसरे के यद्यपि व्रत ग्रहण किए हुए नहीं हैं, तथापि उसकी विचारधारा पंचेंद्रिय-वधादि की नहीं है और वह प्रायश्चित्त चाहता है।

१९८६ प्र.-कोई अविरति सम्यग्दृष्टि सम्वत्सरी आदि अवसर पर स्थावर जीवों की हिंसा की आलोचना प्रायश्चित्तादि करे, तो उसे यथायोग्य प्रायश्चित्त दिया जा सकता है, या नहीं ? क्या व्यवहार-नय से उसके पाप घुलते हैं ? यदि उसे प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता, तो पंचेंद्रिय हिंसा का दण्ड-प्रायश्चित्त कैसे दिया जा सकेगा ?

उत्तर-श्रावक कितनीही हिंसा तो जानबूझ कर भी करता है तथा उसे छोड़ने का उद्यम भी शायद न करे, फिर भी उस हिंसा का खेद होने के कारण वह प्रायश्चित्त आदि स्वीकार करे, तो उसके पाप में मंदता आती है।

११८७ प्र.–अल्प एवं महा के भेद से आस्रव, क्रिया, वेदना एवं निर्जरा के जो १६ भंग बनते हैं। नैरयिकों में जो भावी तीर्थंकरादि हैं, उनके लिए भी महाश्रवी एवं महाक्रिया वाले कैसे कहे गए हैं? वैसे ही देव भी महाश्रवी एवं अल्पनिर्जरा वाले किस प्रकार कहे हैं?

उत्तर–नारकी जीव भावी तीर्थंकर होते हुए भी वर्तमान में विरति के सर्वथा अभाव के कारण महाश्रवी कहे गए हैं एवं सम्यग्दृष्टि होते हुए भी विशुद्ध भावों की प्रबलता के अभाव से अल्प निर्जरा वाले हैं। देवों के लिए भी ऐसा समझना चाहिए।

११८८ प्र.–समकित-रहित अनुष्ठान एक आदि संख्या से रहित शून्यों के समान है। यह बात किस ग्रंथ या सूत्र से प्रमाणित है?

उत्तर–नादंसणिस्स नाणं..... । उत्तरा. अ. २८ गाथा ३० आदि सूत्र पाठ से एवं अनन्त बार चारित्र की शुद्ध क्रिया करने पर भी आत्मा की मुक्ति नहीं हुई, इत्यादि प्रमाणों से समकित-रहित जीवों की क्रिया बिना एक के शून्यों जैसी मानने में कोई बाधा नहीं है।

११८९ प्र.–अल्प आश्रव एवं महानिर्जरा करते हुए जो जीव सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों को अन्तः कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाले बना कर फिर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करते हैं, उनकी यह समकित प्राप्ति से पूर्व की क्रिया सफल मानी जाय या नहीं?

उत्तर–समकिताभिमुख होने के कारण समकित प्राप्ति के अन्तरमुहूर्त्त पूर्व की क्रिया सफल समझनी चाहिए *।

१९९० प्र.–जब देव अपर्याप्तावस्था को पूर्ण कर पर्याप्तावस्था के प्रथम क्षण में होते हैं, तब उनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है, या सात हाथ आदि की? यदि अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है, तो सात हाथ की बनाने में कितना समय लगता है ?

उत्तर–संभवतः देव पर्याप्तावस्था के प्रथम समय में अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाले होते है। तथा बाद में अन्तरमुहूर्त्त में अपनी भवधारणीय अवगाहना पूरी कर लेते हैं। तत्त्व केवली गम्य है।

१९९१ प्र.–प्रज्ञापना पद प्रथम में अप्कायान्तर्गत 'लवणोदक' शब्द से लवण-समुद्र का जल समझना चाहिए या लवण रस वाला पानी? यदि लवण-समुद्र का जल लेवें, तो असंख्य समुद्रों के असंख्य प्रकार के जल की विवक्षा करनी पड़ेगी। यदि लवण रस का जल लिया जाय तो इसमें व खारोदक में अन्तर क्या है?

उत्तर–यहाँ लवणोदक का अर्थ लवण रस वाला पानी समझना चाहिए। क्षारोदक व लवणोदक में लवणिमा की न्यूनाधिकता का अन्तर समझना चाहिए।

१९९२ प्र.–शब्द को पुद्गल द्रव्य का गुण माना जाय या पर्याय? यदि गुण है, तो पुद्गल में शब्दत्व नित्य होना चाहिए

* विशेष समझने के लिए सम्यक्त्व विमर्श आदि साहित्य देखना चाहिए–सं.

परन्तु शब्द को तो अनित्य माना गया है। यदि पर्याय है, तो पुद्गल के किस गुण की ? यदि किसी भी गुण की पर्याय नहीं है और सीधे द्रव्य की पर्याय है, तो 'उभओ अस्सिया भवे' उत्तरा. अ. २८ का यह लक्षण कैसे संगतिपरक होगा ?

उत्तर–शब्द को पुद्गल द्रव्य का गुण नहीं मानना चाहिए। किन्तु वर्णादि गुणों की पर्याय है, उभयाश्रित है ?

१९९३ प्र.–प्रज्ञापना पद १ गाथा ५४ इस प्रकार है–

इक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि इक्कस्स ॥

इसमें बहुत शब्द का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर–यहाँ पर एक जीव को अलग ग्रहण किया है, इस लिए उसके सिवाय शेष 'बहुत' रहेंगे, सब नहीं, क्योंकि सब में से वह अलग बताया गया है। तथा बहु शब्द का प्रयोग किया है।

१९९४ प्र.–सिंघोड़ा प्रत्येक काय है या अनन्तकाय ?

उत्तर–सिंघोड़ा मूल रूप से तो प्रत्येकाय है, किन्तु उसकी नेश्राय में अनन्त काय हो सकते है×।

१९९५ प्र.–प्रवाल (नई कोंपल) अत्यन्त कोमल होती है, उसमें अनन्तकाय के लक्षण मिलते हैं। फिर यह कैसे समझा जाय कि प्रवाल प्रत्येककायिक भी हो सकते हैं। उनके आपस में रही भिन्नता कैसे जानी जाय ?

उत्तर–शास्त्रकारों ने दोनों प्रकार के प्रवालों के लक्षण अलग-अलग बता दिए हैं, उससे जाना जा सकता है, किन्तु अन्य

× मूंगफली के लिए भी ऐसा ही समझना योग्य है–सं.

विवरण तो जो वनस्पति के विशेष सम्पर्क में आने वाले हैं, उनसे जाना जा सकता है।

१९९६ प्र.–क्या तीर्थंकरों के माता-पिता भव्य एवं आसन्न (शीघ्र) मोक्षगामी होते हैं।

उत्तर–यह बात सूत्रों में तो देखने मे नहीं आई, फिर भी संभावना तो ऐसी ही लगती है कि तीर्थंकरों के माता-पिता भव्य एवं आसन्न मोक्षगामी होते हैं।

१९९७ प्र.–एक भव में उत्कृष्ट स्थिति का कर्म एक ही बार बांधा जा सकता है, या अनेक बार भी संभव है?

उत्तर–एक भव में उत्कृष्ट स्थिति के कर्म-बंध अनेक बार हो सकते हैं, लेकिन संख्या का उल्लेख देखने में नहीं आया है।

१९९८ प्र.–सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति छासठ सागरोपम की बारहवें देवलोक के तीन भव या दो अनुत्तर विमान के भवों के दृष्टान्त से बताई जाती है। क्या अन्य प्रकार से भी ६६ सागरोपम की स्थिति भोगी जा सकती है? उदाहरणार्थ–११ वां देवलोक, १२ वां देवलोक व प्रथम ग्रैवेयक की स्थिति २१+२२+२३ = ६६ सागरोपम होती है?

उत्तर–सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति अन्य प्रकार से भी सम्भव है, तथा भवसंख्या अधिक भी हो सकती है।

१९९९ प्र.–दस हजार वर्ष की स्थिति वाले वाणव्यन्तर देव का पुण्य अधिक है, या तीन पल्य की स्थिति वाले स्थलचर तिर्यञ्च युगलिक का? या इससे भी तीन पल्य की स्थिति वाले मनुष्य युगलिक का पुण्य अधिक है?

उत्तर–इनमें से किसी अपेक्षा किसी का तथा अन्य अपेक्षा अन्य का पुण्य न्यूनाधिक मालूम पड़ता है। अतः विशिष्ट ज्ञानी ही इसका अल्पाबहुत्व कह सकते हैं। (पुण्य का उम्र के साथ एकान्त संबंध नहीं है, कई नैरयिक ३३ सागरोपम की स्थिति वाले होते हैं, लेकिन उन्हें सुखी व पुण्यवान नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर ४०, ५० वर्ष की उम्र वाला मानव भी सुखसम्पन्न हो सकता है। इसके चार भांगे बनते हैं–

१ उत्कृष्ट आयुष्य व उत्कृष्ट सुख–अनुत्तर विमानवासी देवों की अपेक्षा।

२ उत्कृष्ट आयुष्य व उत्कृष्ट दुःख–सप्तम नरक के उपरोक्त नैरयिक।

३ कम आयुष्य व उत्कृष्ट सुख–राजा, कोट्याधिप सेठ आदि।

४ कम आयुष्य व कम सुख–दरिद्री मानव साधारण पशु आदि।

वैसे तो दीर्घायुष्य होना सुख का हेतु माना जाता है, फिर भी अशुभ दीर्घायु दु.ख एवं क्लेश का कारण बनता है)।

२००० प्र.–क्या तीर्थंकर जन्म के समय के अतिरिक्त भी नैरयिकों को सुख सम्भव है ?

उत्तर–सम्यक्त्व प्राप्ति के समय शुभ अध्यवसायों के कारण कुछ समय के लिए क्षेत्रज वेदना की ओर लक्ष्य नहीं होने से तथा देवकृत दुःखों के अभाव आदि आदि कारणों से जिन-जन्म आदि के अतिरिक्त भी साता का अनुभव हो सकता है।

२००१ प्र.—ग्यारहवें गुणस्थान से पतित जीवों का संसार काल देशोन अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन बताया, सो वह कितना कम होता है ?

उत्तर—इन जीवों का उत्कृष्ट संसार अवस्थान काल संख्यात सागरोपम कम अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन समझना चाहिए।

२००२ प्र.—किसी जीव के कषाय को अनन्तानुबन्धी आदि कैसा है, इसे किस प्रकार समझा जा सकता है ?

उत्तर—किसी जीव में कौनसी चौकड़ी की कषाय है, इसका निर्णय विशिष्टज्ञानी ही कर सकते हैं।

२००३ प्र.—छद्मस्थ जीव को सात कर्म सदा बंधते रहते हैं, तथा आठ कर्म कभी ही बंधते हैं, सो इसमें क्या रहस्य है ? क्या सप्तविध कर्म-बंधक एवं अष्टविध कर्म-बंधक में अध्यवसायों का अन्तर रहता है ?

उत्तर—सप्तविध बंधक एवं अष्टविध बंधक के अध्यवसायों में अन्तर रहता है। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि जीव आयुष्य-कर्म का बंध एक ही बार करता है। अतः इससे अध्यवसाय की भिन्नता सिद्ध होती है।

२००४ प्र.—जब वेदपाठी याज्ञिक ब्राह्मण भी पहले भवनपति बाद में अज आदि तथा बाद में नारकादि बनते हैं, तो उनको भोजन देने वाला सीधा नैरयिक कैसे बन सकता है ?

उत्तर—कुगुरुओं में गुरु-बुद्धि होने के कारण जीव मिथ्यात्व रूपी अंधकार में प्रवेश करता है और अनेक भव-भ्रमण करता है। सीधा नरक में जावे, ऐसा नियम नहीं है।

२००५ प्र.–परमाधामी देव मर कर मनुष्य कैसे बन सकते है ? यदि उन सरीखे पापात्माओं को मनुष्य-जन्म मिल जाएगा तो फिर इसका निषेध किसके लिए होगा ?

उत्तर–प्रज्ञापना पद २० के अर्थ में तथा गति-आगति के थोकड़े से तो परमाधामी का मनुष्य हो सकना भी बताया है। 'लोक प्रकाश' का इस विषय का कथन संगत नहीं है। (मनुष्य बन जाना इतनी महान उपलब्धि नहीं है। दीन-हीन, विकलांग-कोढ़ी, अपंग आदि भी मनुष्य ही होते हैं। यदि उन परमाधामियों को ऐसा हीन मानव-भव मिल भी जाय, तो क्या विशेषता है ? शास्त्रकारों ने जिस मानव-भव की दुर्लभता बताई है, वह तो धर्मश्रवण, श्रद्धा व पराक्रम, इन अंगों के साथ वाला है। स्थानांग में मनुष्य दुर्गति भी बताई है तथा मनुष्य सुगति भी, सो देखनी चाहिए)।

२००६ प्र.–उत्तराध्ययन अ. ९ गाथा ४० में सहस्र गायों के दान करने वाले से भी संयम श्रेष्ठ बताया है, सो यह सूत्रोक्त होने से मानते ही हैं। लेकिन प्रतिदिन १२ लाख मन स्वर्ण खंडी दान करने वाले से १ सामायिक करने वाला बढ़ कर कैसे? वह मुहूर्त्त भर की आराधना मात्र करता है, दूसरी ओर दान नित्य एवं विपुल दिया जाता है ?

उत्तर–यद्यपि सामायिक एवं उसकी दलाली फल आदि का वर्णन ग्रंथों में मिलता है, तथापि असंगत नहीं लगता। क्योंकि सामायिक व्रत रूप है। तथा प्रश्न-कथित दान व्रत रूप नहीं है।

२००७ प्र.–भरत-क्षेत्र छोटा होते हुए भी वहाँ १०८ सिद्ध एक समय में उत्कृष्ट रूप से हो सकते है, जबकि विजय का क्षेत्रफल अधिक होते हुए भी २० ही सिद्ध होना सुना है, सो यह किस प्रकार ठीक है ?

उत्तर–यह कथन भी ग्रंथों के आधार से ही है। संभवतः ज्ञानियों ने क्षेत्र-स्वभाव ऐसा ही देखा हो। इस विषय में निश्चित् रूप से कुछ भी कहा जाना संभव नहीं है।

२००८ प्र.–भगवती १६–४ में तप का फल निर्जरा बताया है, वह किस अपेक्षा से कहा है ? क्या नैरयिक आदि लाखों वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करते हैं, उपवासादि से उससे भी अधिक निर्जरा हो सकती है ?

उत्तर–उपरोक्त कथन सामान्य नय की अपेक्षा से है। अतः ऐसा कहना ठीक है।

२००९ प्र.–धर्म-क्रिया मात्र कर्म-निर्जरा के लिए करनी चाहिए, ऐसा जानते हुए भी कोई जीव धन निरपेक्ष धर्म अधिक न कर सके तथा प्रभावना आदि के प्रलोभन से विशेष कर सकता है। जैसे कोई श्रावक मास के २ पौषध ही प्रायः किया करता है, लेकिन प्रभावनादि की प्राप्ति होगी, ऐसा सोच कर अधिक करता है। क्या उसे प्रभावना लेने का प्रत्याख्यान कराना उचित है ? इससे लाभान्तराय तो होगी ही, साथ ही धर्म-ध्यान भी कम होगा, सो इस विषय में क्या उचित है ?

उत्तर–दशवैकालिक अ. ९ उ. ४ में तपस्या को कर्म-निर्जरार्थ करने का ही प्रभु का आदेश है। वैसे ठीक श्रद्धा वाला

जीव परिस्थितिवश ही द्रव्याभाव में धर्म-कार्य कम करता है, तथा सहायता से विशेष कर सकता है। अतः सहायता का निषेध करना व सहायता लेने का प्रत्याख्यान करवाना संगत नहीं लगता है। स्वरूप समझाया जा सकता है।

२०१० प्र.–किसी श्रीमन्त ने अपनी ओर से पौषध करवाने के भाव व्यक्त किए। इसका स्पष्ट भाव है कि पौषध करने वालों को मेरी ओर से यथायोग्य उपहारादि दिए जाएँगे। कुछ इहलोक-परलोक प्रतिबद्ध लोगों ने पौषध किए, कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने मात्र कर्म-निर्जरार्थ तथा अपने नियम को पालने के लिए पौषध किए। यदि कर्म-निर्जरार्थ पौषध करने वाले प्रभावनादि नहीं लेना चाहें, तो उनकी यह धारणा ठीक मानी जा सकती है क्या ?

उत्तर–जहाँ ऐसा व्यवहार चालू है, वहाँ ऐसी धारणा रखना ठीक नहीं है। उस द्रव्य को काम में न भी ले, तो चल सकता है, वस्तु स्वरूप को तो ध्यान में रखना ही चाहिए।

२०११ प्र.–वनस्पति के अग्रबीजादि व सम्मूर्च्छिम अलग-अलग भेद किए गए हैं। उनमें जो महामेघादि से शाल्यादि धान्य निष्पन्न होते हैं, वे कौनसे हैं ?

उत्तर–वे शालि आदि अग्र बीज आदि हैं। तथा बहत्तर बिलों में वे बीजभूत धान्य नहीं रहते हैं, किन्तु अमृत मेघ से धान्योत्पत्ति होती है।

२०१२ प्र.–किसी बालिका की प्राण-रक्षा करने के लिए उसे पकड़ कर बचाया। ऐसा करने वाले साधु का व्यवहार-

रक्षा के लिए क्या प्रायश्चित्त योग्य है ?

उत्तर–तीन उपवास का प्रायश्चित्त लेना योग्य है ।

२०१३ प्र.–निगोद के जीव एकान्त सुप्त है, या कदाचित् सुप्त है ? यदि एकान्त सुप्त है, तो पन्नवणा पद ३ की चौदह बोलों की अल्पाबहुत्व में सुप्त से जाग्रत संख्यातगुण कैसे बताए गए हैं ? यदि स्यात जाग्रत है, तो किस अपेक्षा से जाग्रत माना जा सकता है ?

उत्तर–निगोद जीवों को एकान्त सुप्त नहीं कहना चाहिए । जब से वे पर्याप्त हो जाते हैं, तब से उन्हें जाग्रत कहा जाता है ।

२०१४ प्र.–सम्यग्-दृष्टि को मोक्ष की ईच्छा होना मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के कारण है, या क्षयोपशम के साथ जो अल्प रागांश उदयगत है, उसके कारण है ?

उत्तर–मोक्षेच्छा में मोहनीय का क्षयोपशम रहा हुआ है ।

२०१५ प्र.–संवत्सरी के दिन गोलोम जितने भी माथे के केश हो, तो प्रायश्चित्त आता है, सो यह सेंटीमीटर का कौनसा भाग है ।

उत्तर–नीरोग एवं जवान गायों के पूंछ व सींग के आसपास के बालों के अलावा दूसरे बाल दिखाई देते ही हैं, जिससे नाप का पता लग सकता है ।

२०१६ प्र.–पुलाक जब पुलाक अवस्था में काल नहीं करता, तो उसकी गति क्यों बताई गई है । इसकी स्थिति कितनी होती है ?

उत्तर–जिसके द्वारा संयम में निस्सारता हो, उसे पुलाक कहते हैं । पुलाक-निर्ग्रंथ की स्थिति अन्तरमुहूर्त्त की होती है ।

यद्यपि पुलाकावस्था में काल नहीं करता, तथापि कषाय-कुशील बन कर शीघ्र ही काल कर सकता है। अतः उपचार से इस अपेक्षा पुलाक की गति बताई गई है। पुलाकावस्था में वह मूलोत्तर गुणों का प्रतिसेवी होता है। यदि पुलाक आलोचना कर के कषाय-कुशील मे आए तथा काल कर जाए, तो वह पुलाक का आराधक कहा जाता है। असंयम में चला जाय तथा आलोचना न करे, वह विराधक कहा जाता है। यद्यपि पुलाकावस्था में ही विराधक कहलाता है, लेकिन उस अवस्था में काल नहीं करने के कारण असंयम में गए हुए को विराधक बताया है। इसी अपेक्षा उसे आराधक-विराधक कहा जाता है।

२०१७ प्र.—प्रतिसेवना-कुशील की स्थिति ज. १ समय व उत्कृष्ट देशोन क्रोड़पूर्व की बताई है, कैसे? क्या प्रतिसेवना करते समय गुणस्थान कायम रह सकता है?

उत्तर—जिस समय मूल या उत्तर गुण में दोष लगता है, उस समय वह असंयम में जाए या न भी जाए, प्रतिसेवना करके आलोचित न हो तब तक प्रतिसेवना-कुशील कहलाता है। इस अपेक्षा उपरोक्त स्थिति है। (मानसिक भावों की अपेक्षा ज. स्थिति १ समय की मानने में कोई बाधा नहीं है।) किन्तु देशोन क्रोड़पूर्व तक बारम्बार प्रतिसेवना का सेवन करता रहे, इस अपेक्षा नहीं बताई है, क्योंकि बार-बार दोष लगाने से असंयम में जाने की संभावना रहती है। अनालोचित विराधक ही कहलाता है किन्तु कषाय-कुशील में आते ही काल कर जाने की अपेक्षा वहाँ प्रतिसेवना कुशील को आराधक कहा

गया है। प्रतिसेवना-कुशीलपने में या असंयम में काल कर जाने की अपेक्षा विराधक कहा जाता है।

२०१८ प्र.—उत्तरगुण-प्रतिसेवी प्रतिसेवना-कुशील एवं बकुश में अन्तर क्या है?

उत्तर—उत्तरगुण-प्रतिसेवी प्रतिसेवना-कुशील की भाँति बकुश भी समझना चाहिए। अन्तर यही है कि उत्तरगुण-प्रतिसेवना से चारित्र कुत्सित (मैला) हो जाता है तथा बकुशपने में चितकबरा हो जाता है।

२०१९ प्र.—उत्तराध्ययन अ. ३ गाथा ७ "कम्माणं तु पहाणाए......। को लक्षित कर प्रश्न है कि जीव को मनुष्य भव २ कोटाकोटि सागरोपम स्थिति के कर्म शेष रहने पर ही मिलता है, ऐसा सुनना सही है या गलत?

उत्तर—"जीव दो कोटाकोटि सागरोपम कर्म शेष रहने पर मनुष्य-भव प्राप्त करता है।" ऐसा न तो सुनने में आया है, न धारणा ही है। मनुष्य-भव में तो जीव के ७० कोटाकोटि सागरोपम की भी स्थिति मिल सकती है। इसलिए उपर्युक्त स्थिति ध्यान में नहीं आती है। शुद्धि तो अनुभाग आदि अनेक प्रकार से हो सकती है।

२०२० प्र.—क्या असंयत भव्य द्रव्य-देव को पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है? क्या बिना विपाक भी उदीरणादि द्वारा पाप-कर्मों की निर्जरा कर सकता है? यदि हाँ, तो उसके द्वारा आत्मा के किन गुणों की किस रूप व मात्रा में विशुद्धि होती है?

उत्तर–विशेषतः पुण्यानुबंधी-पुण्य का उपार्जन तो सम्यक् संयम तप वाला ही करता है। उसी जीव के सकाम-निर्जरा भी होती है। परन्तु समकिताभिमुख को छोड़ कर शेष असंयत भव्य द्रव्य-देव बिना विपाक के प्रदेशोदय द्वारा अकाम-निर्जरा कर सकता है। अकाम-निर्जरा से आत्मगुण विशुद्धि का प्रश्न ही नहीं है। पुण्य-प्रकृति तो बांधता ही है। उदीरणा के द्वारा विपाक वेद नहीं होता।

२०२१ प्र.–क्या कारण है कि जघन्य व मध्यम ज्ञाना-राधना वाले तद्भव मोक्षगामी नहीं होते ? जबकि ५ समिति ३ गुप्ति वाले उसी भव में मोक्ष चले जाते हैं ?

उत्तर–पाँच समिति एवं तीन गुप्ति के ज्ञान वाले जीव तब ही केवली हो कर मोक्ष जाते हैं जब उनके उत्कृष्ट ज्ञान आराधना हो जाती हो। ज्ञानाराधना में केवल पढ़े हुए ज्ञान को ही न लेकर ज्ञान के प्रति उत्कृष्ट रुचि को लेना चाहिए। यानि ज्ञान के प्रति उत्कृष्ट रुचि, बहुमान–उत्कृष्ट ज्ञानाराधना मध्यम रुचि, मध्यम ज्ञानाराधना एवं जघन्य रुचि–जघन्य ज्ञानाराधना कही जाती है। अतः कथन में विरोधाभास नहीं है।

२०२२ प्र.–क्या उत्तर भरतार्द्ध के लोग युगलिक समय समाप्त हो जाने के बाद मांसाहारी बन जाते हैं ?

उत्तर–नहीं, विशेषतः शाकाहारी ही रहते हैं। उत्तर भरतार्द्ध में भरत चक्रवर्ती के जाने से पूर्व भी वे लोग शाकाहारी थे, क्योंकि उनके वर्णन में अन्नादि का

उल्लेख मिलता है।

२०२३ प्र.–उत्तराध्ययन अ. ३६ गाथा २६२ में लिखा है कि–

बाल-मरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव बहुयाणि।
मरिहंति ते वराया, जिणवयणं जे ण जाणंति।।

जो जीव जिनवचनों को नहीं जानते हैं, वे बहुत बार अकाम-मरण एवं बाल-मरण को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न है कि अकाममरण एवं बालमरण में क्या अन्तर है?

उत्तर–मृत्यु की इच्छा का निरोध किए बिना बलयमरणादि १२ प्रकार के कुमृत्यु से मरना बालमरण कहलाता है। अकाम-मरण मृत्यु की इच्छा न होते हुए भी होता है (उत्तराध्ययन अ. ५ में अकाम एवं सकाम-मरण का सुंदर स्वरूप है। भगवती शतक २ उद्देशक १ में बालमरण एवं पंडितमरण के भेद एवं उनका विस्तृत खुलासा है। मुमुक्षुओं को अवश्य देखने चाहिए।)

२०२४ प्र.–क्या साधु को चातुर्मास के बाद सेसेकाल बिना गढ़ वाले गांव के बाहर रहना कल्पनीय है?

उत्तर–गांव में गढ़ भले ही न हो, लेकिन अलग-अलग भागों में विभक्त हो, जैसे राजकोट का भक्तिनगर, बंबई में माटुंगा, चिंचपोकली आदि अलग-अलग विभाग हैं, ऐसे विभागों से पहले गोचरी नहीं की हो, तो बाद में कल्पानुसार रहा जा सकता है।

२०२५ प्र.–एकेंद्रिय के पांच भावेंद्रियां किस अपेक्षा से

कही जाती है, तथा बकुल वृक्ष को भी पंचेंद्रिय कैसे समझा जाता है ?

उत्तर–ग्रंथ-टीकादि में एकेंद्रिय जीवों के पांच भावेंद्रियाँ बताते हैं, किन्तु यह कथन सूत्रानुकूल नहीं है। क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के पद १५ उद्देशक २ के मूलपाठ में १ भावेंद्रिय ही बताई है। अतः एक ही समझनी चाहिए। शब्दादि के द्वारा जो प्रफुल्लित होना मुरझाना आदि कार्य वनस्पति में देखे जाते हैं, वे संज्ञा के अन्तर्गत है।

२०२६ प्र.–भोगभूमि के वृक्षों की अवगाहना युगलिकों से कितनी न्यूनाधिक होती है ?

उत्तर–जिस प्रकार यहाँ सामान्य रूप से मनुष्यों से वृक्ष ऊँचे होते हैं, इसी प्रकार युगलिक क्षेत्रों के कल्पवृक्षादि की अवगाहना समझनी चाहिए।

२०२७ प्र.–क्या बकुश व प्रतिसेवनाकुशील अतीर्थ में नहीं होते ?

उत्तर–नहीं होते। तीर्थ के अभाव में कषायकुशील, निर्ग्रंथ व स्नातक ये तीन ही होते हैं, शेष नहीं। कारण यह है कि तीर्थ के अभाव में या तो तीर्थंकर होते हैं, या स्वयंबुद्ध। ये संयम में किसी प्रकार का दोष नहीं लगाते हैं। अतः इनका होना सहज सिद्ध है। इसके विपरीत प्रतिसेवना-कुशील व बकुश तो चारित्र से क्रमशः मैले व चितकबरे होते हैं।

२०२८ प्र.–क्या असंज्ञी सर्पों में विष होता है ?

उत्तर–कितने ही असंज्ञी सर्पों में विष होता है, और वह

संज्ञी सर्पों की अपेक्षा कम होना संभव है ।

२०२९ प्र.–जीव का कंपन हो, वहाँ तक मोक्ष नहीं होता तो जो समुद्रादि से सिद्ध होते हैं, उनका शरीर पानी के प्रवाह में हिलता डूलता होगा ?

उत्तर–किसी भी जीव का मोक्ष सयोगी अवस्था (तेरहवें गुणस्थान तक) नहीं होता । तथा जीव का कंपन स्वप्रयोग से सयोगी अवस्था में ही होता है । अतः जब तक कंपन हो, तब तक मोक्ष नहीं होता । नदी, श्मशान आदि में अयोगी अवस्था में जो कंपन होता है, वह पर-प्रयोग से होने के कारण वास्तविक कंपन नहीं कहलाता और योगों का निरोध हो जाने से चौदहवें गुणस्थान में स्वकंपन नहीं होता है ।

२०३० प्र.–पांचवें आरे के अन्त तक २ साधु व २ श्रावक होंगे, यह उल्लेख कहाँ है ?

उत्तर–भगवती श. २० उ. ८ तथा शतक २५ उ. ७ में पांचवें आरे के अन्त तक भरतादि में साधु-साध्वी आदि होने का उल्लेख है । किन्तु कितनी तादाद में, यह पच्चीसवें शतक की टीकादि में बताया है ।

२०३१ प्र.–'सातवीं नरक के उत्कृष्ट आयुष्य का बंध उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामों में होता है ।' प्रज्ञापना पद २३ के इस कथन से पूछना है कि सम्यक्त्व से पतित जीव जब उत्कृष्ट स्थिति का बंध करता है, तब वह मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करता है या नहीं ?

उत्तर–सम्यक्त्व-पतित जीव सातवीं नरक का उत्कृष्ट

आयु बाधते समय आयु-प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला होता है। किन्तु मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध नही करता है, क्योंकि सुनने में ऐसा आया है कि एकबार सम्यग्दृष्टि हो जाने पर वापिस मिथ्यात्व में भी चला जाय फिर भी वह जीव अन्तःकोटा-कोटि सागरोपम (१ से कम) से अधिक का बंध नहीं करता।

२०३२ प्र.–निशीथ सूत्र द्वितीयोद्देशक में लघु मृषावाद का मासिक उद्घातिक दण्ड बताया गया है। जो साधु-साध्वी कपड़े सीने के लिए सूई मांग कर लाए, यदि वे पात्र सीना आदि करें, तो उसे निशीथ प्रथमोद्देशक में मासिक अनुद्घातिक दण्ड का पात्र किस प्रकार बताया है, जबकि उक्त दोष भी लघु मृषावाद ही दृष्टिगोचर होता है ?

उत्तर–निशीथ उ. २ में जो उद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त बताया है, वह सिर्फ अनाभोग (उपयोग न रहने से) एवं सहसाकार (जल्दी में) से संबंधित है। कपड़े सीने का कह कर लाई गई सूई यदि पात्रादि के टांका लगाने में प्रयुक्त हो, तो उसे टूट जाने, मुड़ जाने या नाका टूट जाने आदि खराबियों की आशंका रहती है। अतः इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए प्रथमोद्देशक में अनुद्घातिक प्रायश्चित्त दिया गया है। दूसरी बात यह है कि द्वितीयोद्देशक वर्णित लघु मृषावाद तो साधु समुदाय तक ही सीमित रहता है, लेकिन प्रथम उद्देशक के सूई आदि का तो गृहस्थों के साथ भी संबंध है। धर्म की अवहेलना तो होती ही है, साथ ही साधु-साध्वियों को सूई आदि मिलने में

कठिनाईयाँ हो सकती है। अतः मुनि को चाहिए कि वह गृहस्थ से कोई भी वस्तु लावे, उसका उसी कार्य में उपयोग करने का विवेक रखे।

२०३३ प्र.–शय्यातर-पिंड ग्रहण करने में कम दोष बताने एवं अविधि से याचित या अनर्थ (निष्प्रयोजन) सूई आदि ग्रहण करने में अधिक दोष बताने का क्या कारण है ?

उत्तर–भगवान् ने शय्यातर-पिंड ग्रहण का निषेध दुर्लभ शय्यादि× कारणों से किया है। तथा इसमें आधाकर्म, अविधि आदि दोष न होने के कारण इसका लघुमासिक प्रायश्चित्त बताया है। यदि शय्यातर-पिंड में भी विशेष दोष लगावे, तो वृहत्कल्प उ. २ सूत्र १६ के अनुसार–"से दुहओ वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।" अनुद्-

---

× शय्यातर-पिंड को दशवैकालिक अ. ३ में अनाचार बताया है। पू. श्री अमोलकऋषिजी म. सा. अनुवादित बृहत्कल्प सूत्र पृ. २५ पर शय्यातर-पिंड के निम्न दोष हैं—

"आहार के दातार तो बहुत है पर शय्या के दातार बहुत थोड़े होते हैं तथा शय्यातर के घर का आहार लेंगे, तो मकान मिलना ही मुश्किल हो जायगा। अन्य स्थान से वस्तु न ला कर वहीं से ले-लेने से प्रमाद बढ़ता है। लोग समझेंगे कि वे उनके घर उतरे हैं, अतः वे ही आहार की व्यवस्था करेंगे।" बार-बार एक ही घर जाने से लोगों को शंका होती है, कि यह साधु इस घर में बारबार क्यों जाता है? पू. श्री घासीलालजी ने भी बृहद्-कल्प भाष्यावचूरी के पृ. ४७-४८ पर शय्यातर-पिंड का शास्त्रों में सर्वथा निषेध तथा ग्रहण करने वाले को लौकिक व लोकोत्तर लोकमर्यादा व जिन-मर्यादा का उल्लंघन करने वाला बताया है।

घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त भी बताया है।

गृहस्थों से हाथ के बलात् खेंच कर सूई आदि लेने रूप अविधि ग्रहण में गृहस्थों से विशेष सम्पर्क बढ़ता है। तथा उन गृहस्थों की इच्छा कम या नहीं होते हुए भी उनके पास से ली गई सूई आदि के लिए वे मना नहीं कर पाते हैं। इससे उन्हें दुःख होता है तथा साधुओं पर प्रतीति-प्रभाव कम होता है।

निष्प्रयोजन (अनर्थ) सूई ग्रहण करने पर उसके गुम हो जाने का भय बना रहता है। तथा साधु को किसी दूसरी वस्तु की खोज करनी हो तथा वह सूई के बहाने खोजे, इससे भी कपट आदि दोष लगते हैं। इन-इन कारणों से सूई आदि की अनर्थक याचना भी विशेष दोष की हेतु होती है।

अतः सागारिक पिंड से अविधि-अनर्थ सूच्यादि ग्रहण को विशेष दोष का कारण बताया गया मालुम होता है।

२०३४ प्र.–हस्तकर्म एवं अविधि से वस्त्र सीने का प्रायश्चित्त सरीखा कैसे ?

उत्तर–यद्यपि निशीथ के प्रथम उद्देशक के सभी बोलों का गुरु-मासिक प्रायश्चित्त बताया है। इस पर भी उन सभी बोलों में एकान्त साम्य नहीं है। क्योंकि किसी बोल के लिए छेद किसी के लिए तप आदि अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त बताया गया है।

अविधि सीवन में प्रमाद वृद्धि, जीवों का उपघात, विभू पादि अनेक कारणों से उपयुक्त बोलों के साथ समानता भी हो सकती है। किसी बोल से कोई महाव्रत दूषित होता है, किसी

से कोई। चूंकि भिन्न-भिन्न बोलों से महाव्रतों का दूषित होना सिद्ध है। अतः इस अपेक्षा समानता भी कही जा सकती है। सभी के पृथक्-पृथक् भेद-प्रभेद करना कहाँ तक संभव है? यह तो आलोचना सुनने वाले का दायित्व है कि वह आलोचक के दोष का—मूल सूत्र पर ध्यान रखते हुए यथायोग्य प्रायश्चित्त दे।

२०३५ प्र.–सूत्रकृतांग अ. ३ उ. ३ गाथा ८ से २० तक की गाथाओं में किस परवादी का कथन एवं उसका निराकरण है? टीकाकार ने इसका संबंध गौशालक एवं दिगम्बर मतानुयायियों से जोड़ा है?

उत्तर–'साधु की योग्य सेवा साधु कर सकता है।' इस भगवद्वाक्य का खंडन करने वाले आजीवकादि परवादियों का खण्डन एवं मत इन गाथाओं में है। जिनकल्पी साधु परस्पर वैयावृत्य न करने वाले होते हुए भी साधु द्वारा इस प्रकार की जाने वाली पारस्परिक वैयावृत्य का खण्डन नहीं करते हैं। किन्तु जो पारस्परिक वैयावृत्य करते व करवाते हुए भी इसे साध्वोचित न मानने वाले परवादी हैं, उनका इन गाथाओं में समावेश है। ऐसे वादी भगवान् महावीर स्वामी के समय में ही नहीं हुए, वल्कि अनादि काल से कभी-कभी ऐसे परवादी होते आए हैं। अतः पहले भी ऐसे परवादी हुए थे, उनका खण्डन इन गाथाओं में किया गया है। ये गाथाएँ दिगम्बर मतोत्पत्ति के पूर्व भी थी, ऐसा ध्यान में आता है। अतः दिगम्बर मत से इन गाथाओं का सम्बन्ध जोड़ना उचित

नहीं लगता ।

२०३६ प्र.—अधिक हिंसा के दृष्टिकोण से रात्रि-भोजन अधिक हेय है, या मैथुन-सेवन ?

उत्तर—हिंसा की दृष्टि से रात्रि-भोजन एवं मैथुन की समानता एकान्त रूप से कही जानी सम्भव नहीं है । क्योंकि कभी पहले बोल में हिंसा अधिक हो सकती है, कभी दूसरे बोल में । वैसे तो दोनों त्याज्य ही हैं ।

२०३७ प्र.—चक्रवर्ती नामकर्म का बंध किन-किन गुणस्थानों में सम्भव है । क्या प्रतिवासुदेव निदानकृत ही होते हैं ?

उत्तर—चक्रवर्ती नामकर्म का बंध बंधादि प्रकृतियों में भिन्न तो नहीं बताया है, लेकिन इसका समावेश जिन-नामकर्म के अन्तर्गत होना सम्भव है । 'जिन' नाम कर्म का बंध चौथे से आठवें गुणस्थान तक होना बताया है, तदनुसार यह भी समझना चाहिए । प्रति वासुदेव निदानकृत ही होते हैं ।

२०३८ प्र.—ईर्यापथिक से बद्ध सातावेदनीय कर्म का वेदन विपाकोदय से होता है, या प्रदेशोदय से ? पूर्व-बद्ध असातावेदनीय का विपाकोदय ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक माना है, तो सातावेदनीय का विपाकोदय कैसे संगत होगा ? एक साथ दो विरुद्ध प्रकृतियों का विपाक वेदन कैसे संगत है ?

उत्तर—ईर्यापथिक सातावेदनीय की स्वल्प स्थिति होने से छद्मस्थ के द्वारा अनुभवगम्य नहीं है । किन्तु छद्मस्थ व केवली दोनों के ईर्यापथिक सातावेदनीय के प्रदेश व विपाक दोनों उदय साथ होने में बाधा नहीं लगती । साता व असाता को

बंध एवं उदय विरोधी तो बताई ही है। अतः जिस समय असाता-वेदनीय का विपाकोदय होता है, तब ईर्यापथिक साता-वेदनीय का प्रदेशोदय समझना चाहिए।

२०३९ प्र.–क्या सामान्य नय के अनुसार एक अहोरात्रि के शील का फल पट्मासिक तप तुल्य बताना योग्य है ?

उत्तर–उपरोक्त कथन असंगत है।

२०४० प्र.– दशम गुणस्थान में गोत्र-कर्म का बंध आठ मुहूर्त्त का हो सकता है ?

उत्तर–दशम गुणस्थान में सम्पराय साता-वेदनीय की बंध स्थिति न्यूनतम बारह मुहूर्त्त की होती है।

२०४१ प्र.–क्या मानवीय एवं दैविक काम-भोगों की इच्छा रूप निदान मिथ्यात्व में ही होता है ?

उत्तर–ऐसा एकान्त नियम नहीं है कि निदान मिथ्यात्व में ही हो। समकित में भी नियाणे किए जाते हैं।

२०४२ प्र.–क्या निसर्गरुचि पूर्व-भव में गुरुगम से या स्वतः बोध पाए हुए को ही होती है ? अन्य को नहीं होती ? यदि होती है, तो 'सहसम्मुइया' शब्द की सार्थकता क्या है ?

उत्तर–जिसको इस भव में गुरु आदि के उपदेश बिना स्वतः जातिस्मरणादि के द्वारा जीवादि पदार्थों का बोध हुआ हो, उसे निसर्गरुचि कहते हैं। पहले भव में गुरु से बोध होना एकान्त आवश्यक नहीं है।

२०४३ प्र.–एक जीव के एक समय में एक ही उपयोग होता है, फिर वह बीस परीषह एक साथ कैसे वेदन कर

सकता है ?

उत्तर–जिस प्रकार एक जीव एक समय आठों कर्मों का वेदन करता है, उसी प्रकार परीषहों के लिए भी समझना चाहिए। किन्तु युगपद अनेक उपयोग नहीं होते।

२०४४ प्र.–दस प्रकार की समाचारी का क्रम उत्तराध्ययन में 'आवस्सिया' से लिया गया है, जब कि भगवती में इच्छा-मिच्छा से ? उत्तराध्ययन में 'अभ्युत्थान' नवमी समाचारी है, जबकि भगवती में छंदना व निमंत्रण को पृथक-पृथक् गिन-कर अभ्युत्थान को सर्वथा ही नहीं लिया। दोनों के अन्तर को स्पष्ट फरमावें ?

उत्तर–अनुयोगद्वार सूत्र में पूर्वानुपूर्वी से समाचारी का क्रम इच्छा-मिच्छा तहकार से वतलाया गया है। इसी क्रम से भगवती एवं स्थानांग सूत्र में वताया गया है। समाचारी का यही पूर्वानुपूर्वी क्रम है। यह अनुयोगद्वार से स्पष्ट है। उपसंपदा से इच्छाकार तक उल्टा गिनना पश्चानुपूर्वी क्रम है। और अनानुपूर्वी में समाचारी के ३७, २८, ७९८ भंग बनते हैं। उत्तराध्ययन में अनानुपूर्वी के किसी एक भांगे से वर्णन है।

अभ्युत्थान का अर्थ इस प्रकार किया गया है–"अभि इति आभिमुख्येन उत्थानम् उद्गमनम् तच्च गौरवार्हाणाम् आचार्य-ग्लान-बालादीनां, यथोचिताहारभेषजादिसम्पादनम्। इह च सामान्याभिधानेऽपि अभ्युत्थानं निमंत्रणारूपमेव परिगृह्यते अतएव निर्युक्तिकृता एतत् स्थाने निमंत्रणैवाविहिता*।"

* गुरु, आचार्य, वृद्ध और ग्लानादि की प्रतिपत्ति—सेवा के लिए

इस प्रकार अभ्युत्थान व निमंत्रणा दोनों समाचारी एकार्थक हो जाती है। अतः अनुयोगद्वार भगवती और स्थानांग में निमंत्रणादि दी है और उत्तराध्ययन में अभ्युत्थान समाचारी दी है। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

२०४५ प्र.–क्या संयम-स्थान में कषाय का क्षयोपशम इष्ट है। चारित्र के पर्यव आभ्यन्तर भेद की अपेक्षा है, या बाह्य भेद की अपेक्षा है ?

उत्तर–संयम-स्थानों में कषाय का क्षयोपशम इष्ट है। कषाय के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण ही अनेक संयम-स्थान बनते हैं। यदि कषाय का क्षय या उपशम हो जाय तो एक स्थान बनता है।

चारित्र के पर्यव क्रिया के बाह्य भेद की अपेक्षा नहीं है। बल्कि अन्तरंग विशुद्धि के अंश को संयम-पर्यव कहते हैं। चारित्रिक विशुद्धि के कारण प्रकट हुए सूक्ष्मतम अंश को पर्यव कहते हैं, जो केवलियों के द्वारा भी अविभाज्य होता है। सभी संयम-स्थानों में पर्यव समान नहीं होते, पर कम से कम अनन्त

सदा उद्यत रहना, अर्थात् सेवा-सुश्रूषा के अतिरिक्त अन्न और औषधि आदि के द्वारा उनकी परिचर्या में प्रवृत्त रहना 'अभ्युत्थान' कहलाता है। यद्यपि छंदना में ही अभ्युत्थान का अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि दोनों में कुछ अंतर है। यथा—छंदना समाचारी में तो भिक्षावृत्ति से लाये हुए द्रव्य की निमंत्रणा मात्र है, और अभ्युत्थान समाचारी में गुरुजनों की सेवा में उद्यत रहने का आदेश है।

(उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग ३ पू. श्री आत्मारामजी म. सा. पृ. ११५१ से)

तो होते ही हैं ।

२०४६ प्र.–पुलाक के परिणामों का ज. १ समय व उ. अन्तर्मुहूर्त्त का काल बताया तथा अवस्थित का ज. १ समय व उत्कृष्ट ७ समय का । इन दोनों में क्या अपेक्षा है ?

उत्तर–पुलाक के परिणाम जब वर्द्धमान हों तथा उसी समय कषाय बाधक बन जाय, तब वर्द्धमान परिणाम एकादि समय का रहता है । कषाय बाधक न बने, तो अन्तरमुहूर्त तक रह सकता है । सकषायी संयतों में स्वभाव से ही अवस्थित परिणाम सात समय से अधिक नहीं रहते हैं । फिर उनके परिणाम या तो हीयमान होते हैं, या वर्द्धमान ।

२०४७ प्र.–मूलगुण का प्रतिसेवी होते हुए पुलाक 'नो संज्ञोपयुक्त' कैसे हो सकता है ?

उत्तर–आहारादि की ओर उसकी अभिलाषा पुलाकावस्था में नहीं होती, क्योंकि पुलाक की स्थिति अन्तरमुहूर्त से अधिक नहीं है । इसलिए नो संज्ञोपयुक्त कहा है ।

२०४८ प्र.–स्थानांग स्थान आठ, एवं भगवती सूत्र में आलोचक के आठ गुण बताए हैं, जबकि स्थानांग ठा. १० में दस बताए हैं, सो यह अन्तर क्यों ?

उत्तर–स्थानांग के दसवें ठाणे में आठवें से दो गुण बढ़े हैं–१ अमायी २ अपश्चातापी । यद्यपि इन दोनों बोलों का पहले के आठ बोलों में समावेश हो जाता है, फिर भी सामान्य बुद्धि वाले जीवों को सरलता से समझाने के लिए दो बोलों को पृथक् कह दिया है ।

इसी प्रकार आलोचना सुनने वाले के दो गुण स्थानांग १० में स्थानांग ८ एवं भगवती से ज्यादा कहे हैं। वे हैं–प्रियधर्मी व दृढ़धर्मी। वैसे तो पूर्ववत् इन दो का समावेश आठों में हो जाता है, पर दूसरी दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि आठ गुण वाला आलोचना करने वाले को तो शुद्ध कर सकता है, किन्तु उसके प्रियदृढ़धर्मी होने से ये दोनों गुण आत्मा को स्थिर करते हैं। आलोचक की आलोचना सुन कर उसकी स्वयं की आत्मा विचलित न हो जाय, इसके लिए आलोचना सुनने वाले को प्रियदृढ़धर्मी होना अत्यावश्यक है।

२०४९ प्र.–भाव विउत्सर्ग के तीन भेद हैं या चार ?

उत्तर–भगवती एवं औपपातिक सूत्र में भाव विउत्सर्ग–कषाय, संसार और कर्म के भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। योग विउत्सर्ग का भेद मूलपाठ में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वैसे तीन भेद ही ठीक लगते हैं।

२०५० प्र.–साधु को किसी स्त्री या बालिका का अंग, वस्त्रादि से संघट्टा लगे, या परम्पर संघट्टा लगे, तो कुछ संत एक सरीखा प्रायश्चित्त देते हैं, जब कि कुछ न्यूनाधिक। आपश्री की धारणा फरमावें। आपरेशन आदि में साधु को नर्स या साध्वी को डॉक्टर आदि का स्पर्श हो, तो उसको प्रायश्चित्त रूप में क्या दिया जाता है ?

उत्तर–छोटी या बड़ी किसी भी बहिन का अनन्तर या परम्पर संघट्टन हो जाय, तो उसका प्रायश्चित्त समान रूप में एक उपवास दिये जाने की धारणा है। आपरेशन आदि की

विवश स्थिति में साधु को नर्स या साध्वी को डॉक्टर का हाथ आदि लगे, उसका प्रायश्चित्त गृहस्थों के द्वारा आपरेशन कराने के प्रायश्चित्त में आ जाता है, अलग रूप से नहीं दिया जाता। गृहस्थों के द्वारा आपरेशन करवाने का प्रायश्चित्त एक सौ पाँच उपवास एकान्तर रूप से दिया जाता है।

२०५१ प्र.–चिकित्सा में इलेक्ट्रिक सम्बन्ध हो, तो उसका प्रायश्चित्त क्या है ?

उत्तर–इसका 'गुरु चौमासी' प्रायश्चित्त आता है, जिसमें १२० उपवास दिए जाते हैं। शक्ति विशेष हो, तो इन १२० उपवासों को एकान्तर कर उतारना चाहिए, नहीं तो खंड-खंड कर उतारना होता है। इतनी भी शक्ति न हो, तो उसे छेद दिया जाता है।

२०५२ प्र.–स्टोव पर साधु के लिए तैयार की गई चीज आतुरता से भोगने का क्या प्रायश्चित्त दिया जाता है ?

उत्तर–स्टोव या चूल्हे आदि पर साधु के लिए तैयार की गई वस्तु 'आधाकर्म' है। उसे आतुरतादि कारणों से भोगने पर भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। पूरी तरह से गवेषणा कर के उस का उपयोग किया हो, तथा बाद में आधाकर्मादि का पता लगे, तो तेले का प्रायश्चित्त देने की परंपरा है।

२०५३ प्र.–शय्यातर-पिंड भोगने का क्या प्रायश्चित्त आता है ? शय्यातर को छूने का भी प्रायश्चित्त दिया जाना किस आधार से है ?

उत्तर–शय्यातर-पिंड भोगने का प्रायश्चित्त निशीथ

सूत्रानुसार लघु-मासिक है। अनजान में भोगने में आ जाय तो तेले का प्रायश्चित्त दिए जाने की परम्परा है। शय्यातर या कोई भी गृहस्थ वंदनादि करते समय साधु के चरणादि स्पर्श करे, तो उस स्पर्श से साधु को कोई दण्ड-प्रायश्चित्त नहीं आता। अन्यथा चाहे शय्यातर हो या कोई भी अन्य गृहस्थ, साधु को अपनी ओर से उसका स्पर्श करना ही नहीं चाहिए।

२०५४ प्र.–'वियत्त किच्च' प्रायश्चित्त किसे कहते हैं तथा इसका उपयोग कैसे होता है? क्या गीतार्थ साधु प्रायश्चित्त न्यूनाधिक एवं वैयावृत्यादि में भी परिवर्तित कर सकते हैं?

उत्तर–गीतार्थ मुनि द्वारा मध्यस्थ भाव से छोटे-बड़े कार्य प्रसंग, परिस्थिति, धारक की नीयत, वहन करने की सामर्थ्य आदि को दृष्टिगत रखते हुए जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह आत्म-विशुद्धि का कारण बन जाता है। प्रायश्चित्त कितना व किस प्रकार का दिया जाय, इन प्रसंगों का निर्णय तो गीतार्थ स्वयं करते हैं।

२०५५ प्र.–प्रायश्चित्त के वे कौन-कौन से स्थान हैं, जिनके प्रायश्चित्त स्वरूप पंचरात्रिक, मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, पंचमासिक आदि दण्ड आते हैं?

उत्तर–गुरु की आज्ञा बिना जितने दिन साधु रहता है, उसे उतने ही दिन का तप या छेद आता है। ऐसे प्रसंगों में पंच-रात्रिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, पंचमासिक आदि स्थान बन जाते हैं। इस प्रकार दूसरा मकान न मिलने की परिस्थिति में मधु, जल आदि के घड़ों वाले या सारी रात दीप, अग्नि

आदि जलने वाले मकान में एक-दो रात्रि से जितना अधिक रहे, उतने ही दिन का प्रायश्चित्त आता है। ऐसे प्रसंग उपर्युक्त प्रायश्चित्त के स्थान बनते हैं। बृहत्कल्प उद्देशक ५ में कहा है- "भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु परिनिव्वविय....."। इस पाठ से भी पंचरात्रिक छेद स्थान स्पष्ट होता है। व्यवहार सूत्र में बताया गया है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र देने के समय भी छेदोपस्थापनीय चारित्र न दे या विचरने योग्य कल्प न होने पर भी विचरे, इत्यादि स्थलों से विविध प्रायश्चित्त स्थान बनते हैं।

२०५६ प्र.-किसी स्थान पर कबूतरी ने अण्डे दिए हों, तथा लोगों का कोलाहल सुन कर वह भाग जाय तथा ८-१० दिन अण्डे यों ही पड़े रहे, तो उस अण्डे का क्या करना चाहिए? तथा अस्वाध्याय का दोष लगता है या नहीं?

उत्तर-पक्षी द्वारा छोड़ दिया गया अण्डा आठ दस दिन के बाद सजीव रहे, ऐसी सम्भावना कम ही है। उसे एकान्त में परठ कर वहाँ स्वाध्याय किया जा सकता है। अण्डा वहाँ रहे तब तक अस्वाध्याय टालना चाहिए। सूयगडांग में बताया गया है कि अण्डे के लिए पोषण ही आहार है।

२०५७ प्र.-क्या युगलिकों में समकित हो सकती है?

उत्तर-एक कोस से तीन कोस की अवगाहना वाले मनुष्य युगलिकों में तथा एक पल्योपम से तीन पल्योपम तक की स्थिति के मनुष्य-तिर्यंच युगलिकों में पूर्व-भव से लाई हुई

समकित मिल सकती है, किन्तु वहां नई प्राप्त नहीं होती।

२०५८ प्र.—नो-भव्य नो-अभव्य में कौनसी सामायिक पाई जाती है?

उत्तर—सिद्ध भगवान् को नो-भव्य नो-अभव्य कहते हैं, उनमें एक समकित सामायिक पाई जाती है।

२०५९ प्र.—असंज्ञी एवं नो-संज्ञी नो-असंज्ञी में कौनसी सामायिक पाई जाती है?

उत्तर—समकिती संज्ञी जीव समकित से पतित होता हुआ काल कर के असंज्ञी में उत्पन्न हो, तो ऐसे असंज्ञी जीव में अपर्याप्तावस्था में कुछ समय के लिए सास्वादन समकित पाई जाती है। अन्यथा नहीं।

सयोगीकेवली, अयोगीकेवली व सिद्ध भगवान् को 'नो-संज्ञी नो-असंज्ञी' कहा जाता है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवलियों में १ समकित सामायिक और २ सर्वविरति सामायिक पाई जाती है। सिद्ध भगवान् में समकित सामायिक पाई जाती है। इस प्रकार नोसंज्ञी नोअसंज्ञी में दो सामायिक पाई जाती है।

२०६० प्र.—अनाहारक में कौनसी सामायिक पाई जाती है?

उत्तर—वाटे वहते, केवली समुद्घात के तीसरे चौथे पांचवें समय वाले तथा सिद्ध ये अनाहारक कहे जाते हैं। इसमें केवली व सिद्धों के सामायिक का कथन तो ऊपर किया जा चुका है। वाटे वहते जीव में समकित सामायिक व पूर्वभव में श्रुत सीखा हो, तो श्रुत-सामायिक पाई जा सकती है। इस प्रकार देश-

विरति के अलावा ये तीनों सामायिकें पाई जा सकती है।

२०६१ प्र.–अपर्याप्त में कौनसी सामायिक पाई जा सकती है ?

उत्तर–जो जीव अपर्याप्तावस्था में काल कर जाएँगे, ऐसे लब्धि-अपर्याप्तों में कोई सामायिक नहीं होती। जो करण अपर्याप्त हैं, उनमें समकित व श्रुत ये दो सामायिकें पाई जा सकती है। करण अपर्याप्त का अर्थ है—जो पर्याप्त बनेंगे।

२०६२ प्र.–अभव्य में कौनसी सामायिक पाई जा सकती है ?

उत्तर–निश्चय से तो अभव्य में कोई भी सामायिक नहीं होती। किन्तु चूंकि अभव्य भी नौवें पूर्व तक का ज्ञान सीख सकता है, इस अपेक्षा उसे श्रुत-सामायिक मानी जा सकती है।

२०६३ प्र.–आज्ञा सौंप देने के बाद भी शय्यातर का घर आठ प्रहर तक क्यों टालना चाहिए ?

उत्तर–बृहत्कल्प भाष्य में शय्यातर को मकान सौंप देने के बाद के सोलह विकल्प बताए हैं। इनमें से एक यह भी है कि आठ प्रहर तक उसके घर से आहार आदि नहीं लेना। नियमित विहार करते यह विकल्प संगत प्रतीत होता है।

२०६४ प्र.–क्या चातुर्मास में शय्यातर बदल सकते हैं ?

उत्तर–हाँ, बदला जा सकता है। जैसे चार भाइयों का सम्मिलित मकान होने पर कुछ दिनों के लिए शय्यातर बदल सकते हैं। चातुर्मास में वहीं दूसरे स्थान की याचना करनी पड़े, तो शय्यातर बदल सकता है। साथ ही स्थानांग-कथित

कारणों से चातुर्मास में विहार करना पड़े, तो भी स्थान-स्थान पर नए शय्यातर बनाने पड़ते हैं।

२०६५ प्र.–वार्षिक प्रायश्चित्त कितने समय में उतारा जाता है ?

उत्तर–शारीरिक स्थिति देख कर जितने वर्षों का समय प्रायश्चित्त दाता देवे, उतने–पांच, सात या दस आदि वर्षों में उतार सकते हैं।

२०६६ प्र.–नारद एक दूसरे में भेद डाल कर कलह क्यों करवाते हैं ?

उत्तर–नारद पहले मिथ्यात्वी होते हैं, फिर वे सम्यक्त्वी होते हैं। उस भव में देव बनते है, तापसों जैसा वेश रखते हैं बाद में साधु-वेश धारण करते हैं। पूर्वकर्म वश वे कलहप्रिय एवं कुतूहलप्रिय होते हैं।

२०६७ प्र.–ज्योतिष-चक्र सम पृथ्वी से नौ सौ योजन तक ऊँचा है। उनमें चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र एक दूसरे से ऊपर-नीचे रहे हुए हैं। इस पर भी आकाश में वे समान अन्तर वाले किस प्रकार दिखाई देते हैं ?

उत्तर–यद्यपि ये अन्तर से रहे हुए हैं, तथापि अधिक दूर होने के कारण हमें फर्क ज्ञात नहीं होता। वह अन्तर तो बहुत है, लेकिन रात्रि में उड़ते हुए हवाई-जहाज को देख कर भी तारे की भ्रांति हो जाती है, जो बहुत नजदीक है। हवाई-जहाज से तो तारे बहुत ऊंचे हैं। फिर भी भ्रान्ति से ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है।

२०६८ प्र.—छद्मस्थ केवली किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्थानांग सूत्र के तीसरे स्थान में ३ प्रकार के केवली कहे गए हैं—(१) अवधिज्ञानी केवली (२) मनःपर्यवज्ञानी केवली (३) केवलज्ञानी केवली। प्रथम दो छद्मस्थ केवली कहे जाते हैं। तथा "अजिणा जिण-संकासा"—इस पाठानुसार जिन नहीं, पर जिन-सरीखे। ऐसे महापुरुषों को श्रुत-केवली कहा गया है।

२०६९ प्र.—जीवाभिगम में अकर्मभूमिज स्त्री का संहरण आश्रित जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त व उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का किस अपेक्षा से बताया गया है ?

उत्तर—कोई देव किसी अकर्मभूमिज स्त्री का अपहरण (संहरण) कर कर्मभूमि में रखे और अन्तर्मुहूर्त में विचार-परिवर्तन हो जाने से पुनः स्वस्थान रख दे। इस अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तरमुहूर्त का होता है।

या कोई देवादि किसी अकर्मभूमिज स्त्री का संहरण कर कर्मभूमि में रख दे, उस स्त्री का आयुष्य वहीं समाप्त हो जाय तथा वह देवगति में जा कर वनस्पति में जन्म ले ले। बाद में अनन्तकाल तक वनस्पति आदि में परिभ्रमण कर अकर्मभूमि स्त्री बनकर पुनः वहाँ से संहरण की जाय, इस अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का बनता है।

२०७० प्र.—क्या कार्मण-वर्गणा एक ही प्रकार की होती है ? जो प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी परिणति के अनुसार परिणत होती है ? क्या तीर्थंकर-गोत्र तथा प्रत्येक शुभाशुभ

कर्मो की वर्गणाएँ भिन्न-भिन्न होती है ?

उत्तर—कार्मण-वर्गणा एक ही प्रकार की होती है। उसमें से प्राणी अपनी परिणति के अनुसार समुच्चय रूप से ग्रहण कर के फिर जितने कर्मों का बंधन हो, उसी प्रकार से सात, आठ, छः एक आदि कर्मों में उसे विभक्त कर देता है। उनमें से फिर अवान्तर प्रकृतियों में विभक्त करता है। तथा फिर अपनी शुभाशुभ परिणति में परिणत कर देता है। इस प्रकार कार्मण-वर्गणा एक ही प्रकार की होती है। तीर्थंकर नाम-कर्म आदि की पृथक् वर्गणाएँ नहीं हुआ करती।

आठ कर्मो के बांधने वाले जीव को सबसे थोड़ा कर्मांश आयुष्य-कर्म को प्राप्त होता है। इससे अधिक पर परस्पर समान भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय को मिलता है। उससे मोहनीय कर्म को अधिक, उससे भी नाम-गौत्र को अधिक पर तुल्य हिस्सा मिलता है। वेदनीय को सबसे अधिक भाग मिलता है। सात व छः कर्म बांधने वालों का वर्णन भी यथायोग्य समझा जा सकता है। एक ही कर्म बांधने वाले के तो हिस्से करने ही नहीं पड़ते।

२०७१ प्र.—पुराने पन्नों में मासिक प्रायश्चित्त के गुरु व लघु के अतिरिक्त जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेद किए हैं। उसमें एकासन-निवी आदि को भी मासिक प्रायश्चित्त बताया है। भिन्न मास, पच्चीस दिन का, लघुमास साड़े सताइस दिन का तथा गुरुमास तीस दिन का माना है। यदि संघट्टे का एक उपवास का प्रायश्चित्त ही मासिक कहा जा

सकता है, तो अनन्तर व परम्पर का सरीखा एक उपवास ही कैसे ? एकासन निवी आदि को लघुमास में गिनने का क्या उपयोग है ?

उत्तर–मासिकादि प्रायश्चित्त में निवी, पुरिमड्ढ, एकासन, आयम्बिल, बेला, तेला आदि सामान्य स्थिति में दिए जाते हैं। जैसे– १ मन में प्रायश्चित्त योग्य कार्य करने का संकल्प हुआ हो। २ प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का प्रसंग आया हो। ३ उनके साथ आहार वंदनादि का प्रसंग आया हो। ४ डॉक्टर को आँख आदि दिखाने के प्रसंग में सामान्य रूप से विजली टार्च आदि का अल्प उपयोग हुआ हो, ऐसे-ऐसे प्रायश्चित्त स्थानों में वे वे योग्य प्रायश्चित्त दिए जाते हैं।

२०७२ प्र.–प्रश्न २०५१ के उत्तर में अनिवार्य स्थिति में चिकित्सा हेतु नर्स आदि का संघट्टा लगा हो, तो लघु-चौमासी में समाविष्ट कर देने का फरमाया सो ठीक। लेकिन चिकित्सा नहीं करवा कर मात्र हाथ की नब्ज ही दिखाई हो, तो उसका क्या प्रायश्चित्त होगा ?

उत्तर–इसका उत्तर प्र. २०७१ जैसा समझ लेना चाहिए।

२०७३ प्र.–भिन्नमास के हिसाब से लघु-चौमासी के १०५ उपवास फरमाते हैं, सो वहां भी ५ दिन बढ़ते हैं। लघु-चौमासी में १०८ उपवास होने चाहिए। १०५ उपवास मानने में क्या अपेक्षा है ?

उत्तर–भिन्न मासिक प्रायश्चित्त तो देखने में आता है

किन्तु चौमासी छमासी का, भिन्न-चौमासी भिन्न-छमासी देखने में नहीं आए । लघु-चौमासी गुरु-चौमासी, लघु-छमासी गुरु-छमासी, ये भेद देखने में आते हैं । भिन्न-मासिक में २५ व लघु-मासिक में २७॥ दिन गिने जाते हैं, परन्तु यह हिसाब चौमासी छमासी में नहीं बताया । लघु-चौमासी १०५ गुरु-चौमासी १२० लघु-छमासी १६५ तथा गुरु-छमासी १८० दिन की होती है ।

२०७५ प्र.–× इलेक्ट्रिक संबंध एवं आतुरता से भोगे गए आधाकर्मादि के लिए १२० उपवास का गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया, सो क्या स्त्री-संघट्टन से भी इलेक्ट्रिक संबंध अधिक घृणित है ? फिर तो नदी-नाला उतरने का भी गुरु-चातुर्मासिक दिया जाना चाहिए ? ज्ञानपूर्वक हरी लगाने का उपवास तथा सम्मूर्च्छिम का बेला दिया जाता है, फिर एक्सरे तथा चश्मा दिखाने में लगे इलेक्ट्रिक संबंध का गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त क्यों दिया जाय ? साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि आतुर दशा में भोगे आधाकर्म का प्रायश्चित्त गुरु-चातुर्मासिक है, तो प्रमाद व उपेक्षा की दशा में क्या होगा ? अनाभोग वश आधाकर्म भोगने के बाद पता लगने पर जो तेले का दण्ड दिया जाता है, यह तेला गुरु-चातुर्मासिक रूप है, या षट्-मासिक रूप । चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में बेले का दण्ड किस कारण दिया जाता है ? जो उपवास भी नहीं कर सकते हैं, वे

× इस प्रश्न के भावों को भली प्रकार समझाने के लिए प्रश्नोत्तर नं. २०५०, २०५१, २०५२, २०५३ को पुनः पढ़िए ।

चौमासी आदि का प्रायश्चित्त किस प्रकार उतारें ? शय्यातर के स्पर्श से तात्पर्य उसके आहार से था, शरीर से नहीं। साधु को गृहस्थ का स्पर्श ही नहीं करना, ऐसा शास्त्रीय प्रमाण है, या परम्परा से ही अति परिचय के बचाव के लिए धारणागत व्यवहार है ?

उत्तर—आपरेशन में इलेक्ट्रिक सम्बन्ध, पानी गर्म करना, शस्त्रों को उबालना, सेंक करना तथा आतुरता से आधाकर्म सेवन आदि-आदि बातों का गुरु-चातुर्मासिक १२० उपवास होना शास्त्रसम्मत्त है। बुरी नीयत से स्त्री आदि का स्पर्श इलेक्ट्रिक सम्बन्ध से अधिक घृणित होता है। किन्तु नर्स को दिखाने में बदनीयत न होने से इलेक्ट्रिक संबंध अधिक प्रायश्चित का कारण बनता है, क्योंकि उसमें असंख्य जीवों की विराधना होती है।

शास्त्रोक्त अशक्य स्थिति में नदी पार करने का अल्प प्रायश्चित्त होता है। लेकिन बिना उन-उन कारणों के यों ही नदी पार करने का प्रायश्चित्त अधिक है। यही बात हरितकाय पर पैर आदि रखने के लिए भी है।

आतुर दशा में आधाकर्म सेवन का १२० उपवास का दण्ड होता है। प्रमाद अवस्था में इतने दिन का छेद भी बन सकता है। तथा उपेक्षणीय अवस्था में तो नई दीक्षा का कारण भी बन सकता है। आधाकर्म सेवन के बाद चातुर्मासिक के बदले तेला देने की समाचारी है, षट्मासिक के बदले नहीं।

चौमासी प्रतिक्रमण के बाद दिया जाने वाला बेला

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का नहीं, अपितु चार महीने के जिन-जिन पापों की आलोचना कर ली है, उसके बाद भी कोई पाप अनजान में अनालोचित रह गया हो, तो उसकी शुद्धि के लिए दिया जाता है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए पक्खी प्रतिक्रमण के बाद उपवास व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के बाद तेला दिया जाता है।

जो ज्यादा तपस्या साथ नहीं कर सकते, वे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त को १२ मास तक धार विगय का त्याग कर, कुछ उपवास कुछ आयम्बिल कुछ पुरिमड्ढ कुछ विगय-त्याग इस प्रकार जैसा प्रायश्चित्तदाता योग्य समझे, खण्ड-खण्ड कर के उतरवा सकता है।

"शय्यातर के स्पर्श का भाव आहार से था"—ऐसा प्रश्नकार का लिखना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि शय्यातर के आहार-स्पर्श का प्रायश्चित्त नही है। जैसे किसी गांव में कुछ संत पधारे, मकान-मालिक की आज्ञा ले कर वे ठहर गए। कुछ दिन बाद उस गच्छ के दूसरे मुनि आए तथा गांव में से आहार ग्रहण कर पूर्वागत मुनियों के पास ठहर गए। पहले वे दूसरी जगह ठहर गए हों तथा अब पहले पधारे मुनियों के शय्यातर का आहार भी शामिल हो तथा पूर्व पधारे मुनि उस आहार का नवागंतुक मुनियों में संविभाग करे तथा इस प्रकार आहार का स्पर्श हो जाय, तो उसका प्रायश्चित्त नहीं आता। हां, हाथ को साफ कर फिर अपने आहार में हाथ डालना चाहिए।

गृहस्थ की वैयावृत्य करना साधु के लिए निषिद्ध ही है ऐसा कोई प्रयोजन ही नहीं है, तो फिर क्यों गृहस्थ का स्पर्श किया जाय ?

२०७५ प्र.-वर्षीतप के पारणे अक्षय-तृतीया (वैसाख शुक्ला तृतीया) को करने के क्या आधार है ?

उत्तर-प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी का वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र के द्वितीय वृक्षस्कार में इस प्रकार है- **जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स णवमीपक्खेणं दिवसस्स पच्छिमे भागे.............. मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए।** ग्रीष्मऋतु के प्रथम मास के प्रथम पक्ष की नवमी अर्थात् चैत्र कृष्णा नवमी को दीक्षा अंगीकार की।

भगवान् के पारणे का वर्णन श्री समवायांग सूत्र के पीछे समवायों में इस प्रकार है-

"संवच्छरेण भिक्खा लद्धा, उसमेण लोहनाहेणं।
सेसेहि बीयदिवसे लद्धाओ पढमभिक्खाओ ॥"

भगवान् ऋषभदेवजी का पारणा १२ मास के बाद हुआ। यह बात निर्विवाद रूप से सभी मत स्वीकार करते हैं। यदि पारणा अक्षय-तृतीया का माना जाय तो १३ मास व ९ दिन हो जाते हैं। पारणा १२ मास के बाद मानना इसलिए भी युक्तिसम्मत है कि १२ मास से अधिक उत्कृष्ट तप किसी तीर्थंकर के समय नहीं होता। चौबीसवें तीर्थंकर के शासनकाल में उत्कृष्ट तप छमास का ही है (देखिए व्यवहार उद्देशक १)।

वैसाख सुद ३ का पारणा कैसे चल पड़ा, यह ज्ञात नहीं होता; न इस दिन के लिए कोई आगमिक प्रमाण ही है। हो सकता है, देरावासी बंधुओं की देखादेखी से यह परम्परा चल पड़ी हो। तत्व केवली-गम्य है।

२०७६–लवणसमुद्र के अलावा दूसरे समुद्रों की गहराई प्रमाणांगुल से १००० योजन की है, तो लवणसमुद्र की गहराई कितनी व किस अंगुल से है?

उत्तर–दूसरे समुद्रों की गहराई किनारे से लेकर सभी जगह कुँए की भांति समान रूप से १,००० योजन की है। लवणसमुद्र का माप भी प्रमाणांगुल से है। यह सभी जगह समान रूप से गहरा नहीं है। तालाब के घाट की भांति धीरे-धीरे गहराई बढ़ी है। जम्बूद्वीप या धातकीखण्ड के किनारे से ९५ अंगुल जाने पर १ अंगुल गहरा होता है, यावत् ९५ कोस जाने पर १ कोस की गहराई बढ़ती है। इसी प्रकार ९५ हजार योजन जाने पर १ हजार योजन गहरा है। दो लाख में से बीच के दस हजार की समभूमि में हजार योजन गहरा है।

२०७७ प्र.–अग्नि से तत्काल निकाले गए धधकते गोले को सचित्त माना जाय, तो क्या वे जीव अग्नि के होते हैं? वे पुद्गल लोहे के हैं, या अग्नि के? सोने के कड़े को पृथ्वीकाय का शरीर कहा जाय, या तेजस्काय का?

उत्तर–ऐसा गोला सचित्त एवं अग्निकाय के जीवों वाला है। गोले के लोह पुद्गल उस समय अग्निकायिक जीवों द्वारा

गृहीत होते हैं। ठण्डा हो जाने के बाद गोला व सोने का कड़ा 'पूर्वभाव प्रज्ञापना' की अपेक्षा पृथ्वीकायिक शरीर कहलाता है। देखिए भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक २।

२०७८ प्र.–प्रथम नरक तथा भवनपति वाणव्यन्तर में असंज्ञी के अपर्याप्त जीव वर्तमान में संज्ञी का आयुष्य वेदते हुए भी असंज्ञी कैसे कहे जा सकते है? देव में दो ही वेद है, जबकि असंज्ञी एक नपुंसक वेदी ही होता है, तो भवनपति वाणव्यन्तर में जीव के तीन भेद संज्ञी का पर्याप्त, अपर्याप्त तथा असंज्ञी का अपर्याप्त कैसे कहे जाते हैं?

उत्तर–प्रथम नरक, भवनपति वाणव्यन्तर में उत्पन्न असंज्ञी पंचेंद्रिय जीव जब तक मनपर्याप्ति नहीं बांध लेते, तब तक वे असंज्ञी कहलाते हैं। यह बात भगवती श. ६ उ. ४, श. १८ उ. १ तथा प्रज्ञापना पद २८ आदि से स्पष्ट है। मन पर्याप्ति बंधने के पहले वे जीव असंज्ञी पंचेंद्रिय के अपर्याप्त गिने जाते हैं। जो संज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं, वे पहले अपर्याप्त तथा बाद में संज्ञी के पर्याप्त कहे जाते हैं। इस प्रकार तीन भेद करना सर्वथा उचित है। देवोत्पन्न असंज्ञी जीव में नपुंसक-वेद अल्पकालीन एवं उदय रूप होने से उसे नगण्य करके देवगति में दो वेद ही माने गए हैं।

२०७९ प्र.–प्रत्येक व साधारण दोनों वनस्पति सूक्ष्म होती है, या नहीं?

उत्तर–सूक्ष्म वनस्पतिकाय में प्रत्येक शरीरी जीव नहीं होते हैं, किन्तु साधारण ही होते हैं।

२०८० प्र.–धर्मास्तिकाय की स्वपर्याय क्या है ?

उत्तर–धर्मास्तिकाय में अनन्तजीव एवं पुद्गलों को गति करने में निरन्तर सहायता देने का जो गुण है, उसे धर्मास्तिकाय की स्वपर्याय कहा जा सकता है। अथवा अगुरुलघु रूप शक्ति स्वपर्याय है।

२०८१ प्र.–एक जीव की अपेक्षा मतिज्ञान की अनन्त पर्यायें कैसे हो सकती हैं ? स्वप्न के पुद्गल किस प्रकार के होते हैं ?

उत्तर–एक जीव अनन्त जीव व पुद्गल तथा उनकी पर्यायों को मतिज्ञान द्वारा जानता है। इसलिए एक जीव की अपेक्षा भी मतिज्ञान की अनन्त पर्यायें होती हैं।

स्वप्न-दर्शन नंदीसूत्रानुसार मतिज्ञान का भेद है। अतः पुद्गल रूप नहीं है।

२०८२ प्र.–मानकषायी से क्रोधकषायी किस प्रकार अधिक है ?

उत्तर–क्रोधादि चारों कषायों की उदय स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होती। चारों का अन्तर्मुहूर्त छोटा-बड़ा होता है। इन सबमें मान का अन्तर्मुहूर्त सर्वाधिक छोटा होता है। उससे क्रोध, माया व लोभ का क्रमशः बड़ा होता है। जिसका अन्तर्मुहूर्त छोटा होता है, उसमें जीव कम मिलते हैं। इस कारण से यह अल्पबहुत्व इस प्रकार बताया गया है।

२०८३ प्र.–नमस्कार मंत्र में पहले अरिहंतों को तथा णमोत्थुणं में पहले सिद्धों को नमस्कार करने का प्रयोजन

स्पष्ट करावें ? णमोत्थुणं के अधिकत्तर शब्द अरिहंतों के लिए प्रयुक्त है ?

उत्तर-अरिहंत भगवान् सिद्धों की अपेक्षा विशेष उपकारी हैं, इस उपकारिता की दृष्टि से उन्हें नमस्कार मंत्र में प्रथम स्थान दिया गया है। अरिहंत व सिद्ध, इन दोनों में से बड़े सिद्ध हैं। अतः णमोत्थुणं में पहले सिद्ध भगवान् की स्तुति की जाती है। विशेष उपकारी कौन है तथा बड़े कौन है, इन बातों का ज्ञान कराने के लिए यह व्यवस्था है। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ णमोत्थुणं आते हैं, पहले सिद्ध भगवान् को बाद में अरिहंत भगवान् को है। वैसे अरिहंतों के लिए प्रयुक्त विशेषणों के गुण, सिद्ध भगवंतों में मिलते ही हैं।

२०८४ प्र.-"अरिहंताणं" शब्द सिद्धों के णमोत्थुणं में कैसे उचित है ?

उत्तर-अरिहंत शब्द का अर्थ यदि चार घाती कर्मों का क्षय करने वाला किया जाय, तो अरिहंतों के लिए ठीक है। यदि आठ कर्मों के नाश करने वालों के लिए लिया जाय, तो सिद्ध भगवान् भी अरिहंत हैं। दोनों ही कर्म-शत्रुओं का नाश कर ही चुके हैं। 'भगवंताणं' शब्द को ज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य के लिए लिया जाय, तो दोनों के लिए उपयुक्त है।

२०८५ प्र.-आयुष्य-कर्म बांधने में कितना समय लगता है ?

उत्तर-आयुष्य-कर्म का बंधन करने में असंख्यात समय का अन्तरमुहूर्त लगता है।

२०८६ प्र.-इंद्रियों के उपयोग वालों की अपेक्षा नो उप-

योग वाले संख्यात गुण कैसे कहे गए हैं ?

उत्तर–इंद्रियों का उपयोग वर्तमानकाल विषयक होता है। इसलिए पृच्छा के समय इंद्रियों का उपयोगकाल थोड़ा होने से इंद्रियों में उपयोग वाले जीव थोड़े मिलते हैं। पदार्थों को देख कर जब ओघ-संज्ञा से विचार करता है, तो तब भी वह नो-इंद्रियोपयुक्त होता है। पदार्थों को देखने के पहले व पीछे का विचारणाकाल लम्बा होने से नो-इंद्रियोपयुक्त संख्यात गुण बताए गए हैं।

२०८७ प्र.–क्या दिवाल आदि वस्तु या शरीर से वायु टकराने से वायुकायिक जीवों की हिंसा होना सम्भव है ?

उत्तर–दिवाल आदि की टक्कर से अन्य अचित्त वायुकाय उत्पन्न होती है। जो आस-पास की सचित्त वायु की हिंसा करती है। पंखे से भी अचित्त हवा निकलती है, जो सचित्त वायु का संहार करती है।

२०८८ प्र.–युगलिक मनुष्यों का आहार-परिमाण क्या होता होगा ?

उत्तर–तीन पल्योपम वाले के तुवर जितना, दो पल्योपम की स्थिति वाले के बोर जितना व एक पल्योपम वाले के एक आंवले जितना ग्रंथकारों ने बताया है। लेकिन भगवती श. १ उ. २ तथा पन्नवणा पद १७ के अनुसार बड़े शरीर वालों के बहुत पुद्गलों का आहार बताया है।

२०८९ प्र.–जीव द्वारा ग्रहण किए जाने वाले भाषा-पुद्गल कितने स्पर्श वाले होते हैं ?

उत्तर–जीव द्वारा भाषा रूप में जो अनन्त प्रदेशी स्कंध ग्रहण किए जाते हैं, उनमें से कितने ही स्कंध दो स्पर्श वाले, कितने ही तीन स्पर्श वाले तथा कितने ही चार स्पर्श वाले होते हैं। किन्तु सब स्कंधों को मिलाने से तो नियमेन शीत, उष्ण, स्निग्ध व रुक्ष ये चार स्पर्श ही होते हैं।

२०९० प्र.–क्या कारण है कि एक समय में एक ही अध्यवसाय व उपयोग होते हुए भी ७–८ कर्मों का बंधन होता है? कर्मों का ७–८ हिस्सों में विभाजन कैसे हो जाता है?

उत्तर–यद्यपि अध्यवसाय एक होता है, तथापि कषाय के कारण प्रति समय गृहीत कर्म-पुद्गलों को ७-८ भागों में विभक्त कर दिया जाता है।

२०९१ प्र.–क्या चरम निर्जरा के पुद्गल अवधिज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं, तथा क्या चरम-शरीरी के मारणांतिक समुद्घात होती है?

उत्तर–चरम निर्जरा के पुद्गल कितने ही अवधिज्ञानियों द्वारा जाने जाते हैं, कुछ अवधिज्ञानी नहीं भी देख पाते हैं।

यद्यपि चरम-शरीरी के मारणांतिक समुद्घात नहीं होती है, तथापि प्रज्ञापना पद १५ में बताने की अपेक्षा इस प्रकार है, वहाँ उसका अर्थ 'मरण' करना चाहिए, किन्तु मारणांतिक समुद्घात नहीं कहना चाहिए। वहाँ 'मरण' को ही मारणांतिक समुद्घात कह दिया है।

२०९२ प्र.–दर्पण में पड़ने वाली प्रतिच्छाया किस की पर्याय है?

उत्तर–दर्पण में जिस पदार्थ की परछाई पड़ती है, उसी की पर्याय समझना चाहिए, लेकिन दर्पण की नहीं समझना चाहिए।

२०९३ प्र.–उत्तराध्यन अ. २६ गाथा १६ में आए 'जेट्ठा-मूले' शब्द का अर्थ क्या है?

उत्तर–'जेट्ठामूले' का अर्थ ज्येष्ठ-मास समझना चाहिए। ज्येष्ठ की पूर्णिमा को जब मूलनक्षत्र हो, तब वह जेठ महीने का मूल नक्षत्र गिना जाता है।

२०९४ प्र.–मथाणिया आदि कई गाँवों में स्थानक के पीछे मुसलमान आदि रहते हैं। उस स्थानक में स्वाध्यायादि कैसे हो सकते हैं? क्योंकि पिछली तरफ वे अखाद्यभक्षण, अपेय-पान आदि करते होंगे?

उत्तर–एकान्त में बैठ कर स्वाध्याय करने में बाधा नहीं आती है, अर्थात् स्वाध्याय का स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ से उन पुद्गलों पर दृष्टि न पड़े, साथ ही गंध भी नहीं आनी चाहिए।

२०९५ प्र.–क्या रहने के स्थान से कुछ दूर अकेली साध्वी, व्याख्यान बांचने या वाचनी लेने का कार्य कर सकती है?

उत्तर–व्याख्यान की भांति वाचनी में विशेष भाई-बहिन हों, तो अकेली साध्वी भी वाचनी ले सकती है।

२०९६ प्र.–बारह महिनों का प्रायश्चित्त एक साथ कैसे उतारा जा सकता है?

उत्तर–बारह महिने का प्रायश्चित्त निम्न प्रकार से उतर

उत्तर–जीव द्वारा भाषा रूप में जो अनन्त प्रदेशी स्कंध ग्रहण किए जाते हैं, उनमें से कितने ही स्कंध दो स्पर्श वाले, कितने ही तीन स्पर्श वाले तथा कितने ही चार स्पर्श वाले होते हैं। किन्तु सब स्कंधों को मिलाने से तो नियमेन शीत, उष्ण, स्निग्ध व रुक्ष ये चार स्पर्श ही होते हैं।

२०९० प्र.–क्या कारण है कि एक समय में एक ही अध्यवसाय व उपयोग होते हुए भी ७–८ कर्मों का बंधन होता है? कर्मों का ७–८ हिस्सों में विभाजन कैसे हो जाता है?

उत्तर–यद्यपि अध्यवसाय एक होता है, तथापि कषाय के कारण प्रति समय गृहीत कर्म-पुद्गलों को ७-८ भागों में विभक्त कर दिया जाता है।

२०९१ प्र.–क्या चरम निर्जरा के पुद्गल अवधिज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं, तथा क्या चरम-शरीरी के मारणांतिक समुद्घात होती है?

उत्तर–चरम निर्जरा के पुद्गल कितने ही अवधिज्ञानियों द्वारा जाने जाते हैं, कुछ अवधिज्ञानी नहीं भी देख पाते हैं।

यद्यपि चरम-शरीरी के मारणांतिक समुद्घात नहीं होती है, तथापि प्रज्ञापना पद १५ में बताने की अपेक्षा इस प्रकार है, वहाँ उसका अर्थ 'मरण' करना चाहिए, किन्तु मारणांतिक समुद्घात नहीं कहना चाहिए। वहाँ 'मरण' को ही मारणांतिक समुद्घात कह दिया है।

२०९२ प्र.–दर्पण में पड़ने वाली प्रतिच्छाया किस की पर्याय है?

उत्तर-दर्पण में जिस पदार्थ की परछाई पड़ती है, उसी की पर्याय समझना चाहिए, लेकिन दर्पण की नहीं समझना चाहिए।

२०९३ प्र.-उत्तराध्यन अ. २६ गाथा १६ में आए 'जेट्ठामूले' शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर-'जेट्ठामूले' का अर्थ ज्येष्ठ-मास समझना चाहिए। ज्येष्ठ की पूर्णिमा को जब मूलनक्षत्र हो, तब वह जेठ महीने का मूल नक्षत्र गिना जाता है।

२०९४ प्र.-मथाणिया आदि कई गाँवों में स्थानक के पीछे मुसलमान आदि रहते हैं। उस स्थानक में स्वाध्यायादि कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि पिछली तरफ वे अखाद्यभक्षण, अपेयपान आदि करते होंगे ?

उत्तर-एकान्त में बैठ कर स्वाध्याय करने में बाधा नहीं आती है, अर्थात् स्वाध्याय का स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ से उन पुद्गलों पर दृष्टि न पड़े, साथ ही गंध भी नहीं आनी चाहिए।

२०९५ प्र.-क्या रहने के स्थान से कुछ दूर अकेली साध्वी, व्याख्यान बांचने या वाचनी लेने का कार्य कर सकती है ?

उत्तर-व्याख्यान की भाँति वाचनी में विशेष भाई-बहिन हों, तो अकेली साध्वी भी वाचनी ले सकती है।

२०९६ प्र.-बारह महिनों का प्रायश्चित्त एक साथ कैसे उतारा जा सकता है ?

उत्तर-बारह महिने का प्रायश्चित्त निम्न प्रकार से उतार

है, परन्तु एकेंद्रिय जीव स्पर्शेन्द्रिय से ही ये कार्य करते हैं।

२१०० प्र.–सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव कहाँ-कहाँ है, तथा उन्हें कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर–लोक के ठोस भाग को छोड़ सभी भागों में बादर वायुकाय होती है, जो इन्द्रिय-ग्राह्य है। शेष चार बादर स्थावरकाय लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। सूक्ष्म पाँचों स्थावर सम्पूर्ण लोक में है, पर उन्हें प्रत्यक्षज्ञानी के बिना कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। ठोस से ठोस पदार्थ भी इनके गमनागमन में बाधक नहीं बन सकते। इन्हें इंद्रियों से देखना असंभव है। परन्तु इन पाँच सूक्ष्म स्थावरों को 'सुहुमा सव्व लोगम्मि' इस आगम पाठ द्वारा ही सर्व लोक व्यापी समझ सकते हैं। मति-श्रुत ज्ञान परोक्ष, व शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है।

॥ तृतीय भाग सम्पूर्ण ॥

संघ के प्रकाशन

	मूल्य
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	अप्राप्य
२ भगवती सूत्र भाग १	अप्राप्य
३ भगवती सूत्र भाग २	"
४ भगवती सूत्र भाग ३	"
५ भगवती सूत्र भाग ४	"
६ भगवती सूत्र भाग ५	५-००
७ भगवती सूत्र भाग ६	५-००
८ भगवती सूत्र भाग ७	७-००
९ उत्तराध्ययन सूत्र	५-००
१० उववाइय सुत्त	२-००
११ जैन स्वाध्यायमाला	अप्राप्य
१२ दशवैकालिक सूत्र	२-२५
१३ सिद्धस्तुति	०-७५
१४ स्त्री-प्रधान धर्म	अप्राप्य
१५ सुखविपाक सूत्र	०-२०
१६ कर्म-प्रकृति	०-२०
१७ सामायिक सूत्र	०-१५
१८ सूयगडांगसूत्र	अप्राप्य
१९ विनयचंद चौवीसी	०-४०
२० नन्दी सूत्र	अप्राप्य
२१ आलोचना पंचक	०-२०
२२ श्री उपासकदशांग सूत्र	४-००
२३ सम्यक्त्व-विमर्श (हिन्दी)	अप्राप्य
२४ अंतगडदसा सूत्र	१-७५
२५ प्रतिक्रमण सूत्र	०-३५
२६ संसार-तरणिका	१-२५
२७ तेतीस बोल	०-३०

	मूल्य
२८ एक सौ दो बोल का बासठिया	०–१५
२९ गुणस्थान स्वरूप	०–२५
३० गति-आगति	०–१५
३१ प्रश्नव्याकरण सूत्र	७–००
३२ नव तत्त्व	१–२५
३३ पच्चीस बोल	०–३५
३४ समर्थ समाधान भाग १	३–००
३५ समर्थ समाधान भाग २	अप्राप्य
३६ रजनीश दर्शन	अप्राप्य
३७ शिविर व्याख्यान	अप्राप्य
३८ मंगल-प्रभातिका	अप्राप्य
३९ सार्थ सामायिक सूत्र	०–४०
४० समिति-गुप्ति	०–२०
४१ स्तवन-तरंगिणी	अप्राप्य
४२ अणुत्तरोववाइयदसा सुत्त	०–५०
४३ तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय	१–५०
४४ સમ્યક્ત્વવિમર્શ ગુજરાતી	१–५०
४५ भवनाशिनी भावना	०–३०
४६ अंतकृत विवेचन	अप्राप्य
४७ तीर्थंकरों का लेखा	″
४८ जीव धड़ा	०–२५
४९ लघुदण्डक	०–४०
५० महादण्डक	०–४०
५१ तीर्थंकर चरित्र भाग १	५–००
५२ तीर्थंकर चरित्र भाग २	१०–००
५३ तीर्थंकरचरित्र भाग ३	६–००
५४ जैन सिद्धांत थोकसंग्रह भाग १, २	२–५०
५५ आत्म-शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	३–५०
५६ समकित के ६७ बोल	०–२०